विचार
चिंतन
शोध सृजन

ISSN : 2455-4219

आलोचन दृष्टि

Aalochan Drishti

An International Peer Reviewed Refereed Research Journal of Humanities

वर्ष-5 अंक-18 अप्रैल-जून, 2020

प्रधान-संपादक
डॉ० सुनील कुमार मानस

संपादक
डॉ० योगेश कुमार तिवारी

प्रबंध-संपादक
श्री सुधीर कुमार तिवारी

ISSN : 2455-4219

आलोचन दृष्टि

Aalochan Drishti

An International Peer Reviewed Refereed Research Journal of Humanities

वर्ष-5	अंक-18	अप्रैल-जून, 2020
Year - 05	**Volome - 18**	**April.-June, 2020**

प्रधान-संपादक

डॉ० सुनील कुमार मानस

संपादक

डॉ० योगेश कुमार तिवारी

प्रबंध-संपादक

श्री सुधीर कुमार तिवारी

© **प्रकाशक :**

संपादकीय/प्रकाशकीय पता :–

आलोचन दृष्टि प्रकाशन,

आजाद नगर, बिन्दकी, जनपद–फतेहपुर,

उ0प्र0–212635

ई–मेल : aalochan.p@gmail.com

दूरभाष : 09580560498/09451949951

07376267327

मुद्रण :– जय ग्राफिक्स एण्ड कान्सट्रक्सन,
आई0टी0आई0 रोड़, फतेहपुर–212601।

सदस्यता शुल्क	एक अंक	वार्षिक	आजीवन
व्यक्तिगत	300	1200	10,000
संस्थागत	400	1500	15,000

संपादकीय-विमर्शकार

- **प्रो0 गिरीश्वर मिश्र,** शिक्षाविद् एवं पूर्व कुलपति, म. गां. अं. हिं. वि., वर्धा, (महाराष्ट्र)।
- **प्रो0 रामसजन पाण्डेय,** कुलपति, बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)।
- **प्रो0 चितरंजन मिश्र,** पं.दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ0प्र0)।
- **प्रो0 नंदकिशोर आचार्य,** सुथारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर, राजस्थान–252028।
- **प्रो0 सदानंद गुप्त,** निदेशक, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, (उ0प्र0)।
- **प्रो0 कृपाशंकर चौबे,** महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, (महाराष्ट्र)।
- **प्रो0 माधवेन्द्र पाण्डेय,** हिन्दी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालयए शिलांग, मेघालय।
- **प्रो0 प्रेमशंकर त्रिपाठी,** आशीर्वाद अपार्टमेन्ट, सी. ए. 5/10, देशबन्धु नगर, कलकत्ता–100059।
- **प्रो0 दिलीप सिंह,** इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक (म.प्र.)।
- **प्रो0 आर0 एस0 सर्राजू,** हैदराबाद विश्वविद्यालय, (तेलंगाना)।
- **प्रो0 उमापति दीक्षित,** केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा (उ0प्र0)।
- **प्रो0 एस0 वी0 एस0 एस0 नारायण राजू,** तमिलनाडु केन्द्रीय विश्वविद्यालय, तमिलनाडु।
- **Shri- Tejendra Sharma,** Harrow & Weealdstone, Middlesex HA3 7AN (U.K.)
- **Shrimati- Susham Vedi,** New Yark, (U.S.A.)

संपादक-मंडल

- **डॉ0 उदयन मिश्र,** हरिश्चन्द्र पी. जी. कॉलेज, वाराणसी, (उ0प्र0)।
- **डॉ0 बलराम शुक्ल,** संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- **डॉ0 दण्डिभोट्ला नागेश्वर राव,** सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, श्री चंदशेखरेंद्र सरस्वती विश्वविद्यालय, एनात्तूर–कांचीपुरम्, तमिलनाडु।
- **डॉ0 शशिभूषण भट्ट,** संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, (उ0प्र0)।
- **डॉ0 अमित द्विवेदी,** इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, (उ0प्र0)।
- **श्री राम कुमार मानिक,** शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, (उ0प्र0)।

विधि-परामर्शदाता

श्री **उमाशंकर त्रिपाठी** (एडवोकेट), सिविल कोर्ट, फतेहपुर उ0प्र0–212601।

नोट : सभी पद अवैतनिक एवं अव्यावसायिक हैं। प्रकाशित शोध–लेखों एवं उसमें दिये गये उद्धरणों के वाद–विवाद संबंधी किसी भी कार्यवाही का शोधकर्ता (लेखक) स्वयं जिम्मेदार होगा। इस तरह के किसी भी विवाद में संपादक, प्रकाशक एवं 'आलोचन दृष्टि' परिवार के किसी भी सदस्य की कोई जिम्मेंदारी नहीं होगी और किसी भी प्रकार के विवाद का समाधान फतेहपुर न्यायालय में होगा।

संपादकीय

समय, संदर्भ और संवेदना की हलचल से हम बच नहीं सकते हैं। कहीं न कहीं इससे हमारा गहरा सरोकार रहता है या होता है। हम इसके बहुरंगी रंग में रंगते हुए भी इसके रंगों में परिवर्तन भी करते रहते हैं या परिवर्तन के आकांक्षी होते हैं। साथ ही इसके चिंतन एवं अनुचिंतन में नए प्रयोग एवं अनुप्रयोग भी करना हमारे स्वभाव में शामिल हो गया है लेकिन यह चिंतन हमें सदैव नई दृष्टियों से अवगत करते/कराते हैं और विचारों की नवीन सृष्टि भी, जिसका क्रम निरंतर चलता रहता है। इस नवीन सृष्टि का अभीष्ट है हमारी परंपरागत/ढ़ांचागत सोच और समझ को परिवर्तित करना। जिस तरह इतिहास, वर्तमान को प्रभावित करता है, ठीक उसी तरह वर्तमान, इतिहास को भी प्रभावित करता है। टी. एस. इलियट ने इसी ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'अतीत ही वर्तमान को नहीं प्रभावित करता बल्कि वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है।' इस प्रयोग और परंपरा के सूत्र निरंतर गतिशील होते हैं या रहते हैं, जिसे हम आज तक जिस रूप में स्वीकार करते हुए चले आए हैं, हमारा अतीत उसे उसी रूप में कभी स्वीकार नहीं कर पाया था और न ही हमारा भविष्य वर्तमान की स्वीकारोक्ति को कभी स्वीकार कर पायेगा। अस्तु हमें जड़ बनने या बनाने की जरूरत नहीं है और न ही किसी बात को उस रूप में व्यक्त करने की, जिसमें परिवर्तित होने/करने की कोई गुंजाइश ही न हो, जो हो रहा है, वह कल वैसा नहीं होगा– इससे सभी अवगत हैं परंतु इस स्वीकारोक्ति को पूर्णतः स्वीकार कर पाना– सबके लिए संभव भी नहीं होता। यह हमारे लिए कठिन चुनौती भी है और भविष्य की प्रबल संभावना भी। संभावनाओं की तलाश ही हमारा अभीष्ठ है और अभिलक्ष्य भी।

पिछले 3 महीनों में जिस तरह से कोरोना ने एक दहशत पूरी दुनिया में फैलाई है या बनाई है, उससे हम सभी कहीं न कहीं बहुत अधिक प्रभावित भी हुए हैं और प्रताड़ित भी। पर हमारे संभावना के तलाशी–मन ने जीवन जीने का एक नया पाठ भी पढ़ाया है और लगातार पढ़ा भी रहा है। हमें इससे सीख लेकर पुनः कार्य करने की जरूरत है और विज्ञान के ऐसे आविष्कार से बचने की भी, जो हमारे लिए अभिशाप बनकर के उभरे, हमारे खाने–पीने, सोचने–समझने और चलने–फिरने आदि समस्त क्रियाओं में बाधा उत्पन्न करें साथ ही हमारे स्वतंत्रता को ही हमसे छीन ले। आने वाला समय इसकी गहरी पड़ताल करेगा। अभी इस पर बहुत कुछ कह पाना कठिन भी है और त्वरित भी। फिर भी हमने जिजीविषा का जो रूप देखा, वह निश्चित रूप से उत्साह और ऊर्जा पैदा करने वाला रहा है– इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

सुखद है कि पत्रिका अपने 18वें सोपान से गुजरते हुए आपके समक्ष प्रस्तुत हो रही है, इस अंक में प्रकाशित होने वाले डॉ. क्रान्तिबोध का 'स्वातंन्त्र्योत्तर निराला : हृदय कुंज में जलता आशा का प्रदीप', डॉ. योगेश कुमार तिवारी का 'निर्मला पुतुल का काव्य–संसार : विचार एवं चुनौतियां', प्रियंका कुमारी का 'विश्वनाथ त्रिपाठी के संस्मरणों की सृर्जनात्मकता', डॉ. बृजेश कुमार पाण्डेय का 'कामायनी : मनुष्यत्व का आख्यान', सुधीर कुमार तिवारी एवं डॉ. सुहासिनी बाजपेयी का 'दिव्यांगों के समावेशन के संदर्भ में समावेशी शिक्षा : एक सर्वेक्षण' आदि शोध–लेख विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

अंत में मैं इस अंक के सभी शोध–लेखकों, पाठकों एवं 'आलोचन दृष्टि' परिवार के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिनके सहयोग से शोध–पत्रिका का यह अंक आपके समक्ष प्रस्तुत हो रहा है।

जून, 2020।

विषयानुक्रमणिका

1.	स्वातंत्र्योत्तर निराला : हृदय कुंज में जलता आशा का प्रदीप *डॉ. क्रान्तिबोध*	01-05
2.	निर्मला पुतुल का काव्य-संसार : विचार एवं चुनौतियां *डॉ. योगेश कुमार तिवारी*	06-12
3.	असम के हिंदी भाषियों का सामाजिक-जीवन *डॉ. जाहिदुल दीवान*	13-16
4.	कामायनी : मनुष्यत्व का आख्यान *डॉ. बृजेश कुमार पाण्डेय*	17-20
5.	आत्मकथा के निकष पर अपनी खबर *डॉ. ज्ञानेंद्र कुमार*	21-24
6.	विश्वनाथ त्रिपाठी के संस्मरणों की सृर्जनात्मकता *प्रियंका कुमारी*	25-31
7.	'अँधेरे बंद कमरे' उपन्यास में चित्रित मध्यवर्गीय-संघर्ष *पुष्पा कुमारी*	32-40
8.	दुःखद्-मानसिकता की तहरीर : 'भया कबीर उदास' *डॉ. प्रियंका*	41-44
9.	हिन्दी कथा साहित्य : नारी *डॉ. प्रज्ञा पाण्डेय*	45-47
10.	राजेश जोशी की आलोचनात्मक-दृष्टि *पीयूष कुमार*	48-51
11.	मध्य भारत का आदिवासी-उत्थान और सरकारी प्रयास *अरूण कुमार वर्मा*	52-56
12.	पाश्चात्य आधुनिकता के मानवीय-सूत्र (दाँते से लेकर कार्ल मार्क्स तक) *डॉ. सुनील कुमार मानस*	57-59
13.	उषा किरण खान की कहानियाँ : एक मूल्यांकन *मयंक*	60-67
14.	दिव्यांगों के समावेशन के संदर्भ में समावेशी शिक्षा : एक सर्वेक्षण *सुधीर कुमार तिवारी, डॉ. सुहासिनी बाजपेयी*	68-72
15.	चांदायन की लोक-चेतना *डॉ. रामशंकर पुजारी*	73-80

स्वातंत्र्योत्तर निराला : हृदय कुंज में जलता आशा का प्रदीप

क्रान्तिबोध *

निराला साहित्य को पढ़कर यह जानना बेहद रोमांचकारी है कि कैसे एक कवि अपनी निजी जिंदगी की परेशानियों को, दुश्वारियों को झेलता हुआ, उन्हें पार करता हुआ, आम आदमी को केंद्र में रखकर ना केवल साहित्य रचता है बल्कि उसमें नए प्रयोग, नए प्रतिमान नया शिल्प गढ़ता चलता है।

सत्ता समाज को नियमित करने वाली ताकत है। वह ताकत जो यह तय करती है कि लोग कैसे रहेंगे। इसके स्वरूप या प्रकार जो भी हों लेकिन इसका प्रत्यक्ष प्रभाव आम लोगों पर ही होता है। निराला ने आरंभ से ही ऐसी सत्ता, जो गरीब व्यक्ति को, आम आदमी को संतोष न दे, से मुठभेड़ की है। सत्ता के उपकरण फिर चाहे धार्मिक हों, राजनैतिक हों या फिर सामाजिक। उदाहरणार्थ 'राजे ने अपनी रखवाली की'। निराला सत्ता की इसी भूल गलती से निरंतर लड़ते चलते हैं। जहां कहीं भी चोट गरीब पर हुई प्रतिरोध अवश्य किया। छायावाद एवं प्रगतिवाद के काल सीमा के भीतर निराला ने अन्याय की शक्ति के मुखालफत नई शक्ति की मौलिक कल्पना का दर्शन दिया था। लगभग एक युद्ध था जिसमें वे शक्ति की तरफ, सत्ता की तरफ, अन्याय की तरफ नहीं थे। लेकिन सन् 46 तक आते–आते यह भी समझ गए थे कि भारत की सत्ता हस्तांतरण का जो खेल अंग्रेज भारतीय बुर्जुवा के साथ मिलकर खेल रहा है उसमें जनता की निराला जैसों की हार ही निहित है। इसीलिए बेला और खासतौर पर नए पत्ते की कविताएं देखने को मिली जिसमें कॉंग्रेस और जवाहरलाल नेहरू का चरित्र और अधिक स्पष्ट उभर कर सामने आ गया। जवाहरलाल नेहरू जिस समय में वैज्ञानिक साधनों के उपयोग, देश के उद्योगीकरण, बड़े बड़े धंधों के राष्ट्रीयकरण के माध्यम से देश को आगे बढ़ाने के लिए भाषण करते थे लेकिन उनकी कथनी और करनी में बड़ा अंतर था। उनके नेतृत्व में देश के उद्योगीकरण से मुट्ठी भर आदमियों ने लाभ उठाया, पूंजीवाद का तेजी से विकास हुआ, संपत्ति के एकाधिकारी रूप आंखों के सामने आए, विदेशी ऋण पर निर्भरता, नौकरशाही की समृद्धि भी देखने को मिली।

अर्थ के गर्त में सर्प जैसे पड़े
धनिक जन सजग होकर हुए हैं खड़े।

बेला के इस गीत (पेज 77) तथा अन्य रचनाओं में निराला जनता को देसी पूंजीवाद के प्रति बार–बार सावधान करते हैं। सन् 45–46 में महात्मा गांधी और पंडित जवाहरलाल नेहरू के भाषणों से उसकी नीति से, नए पत्ते की रचनाओं में निराला ने जो कुछ कहा है, उसकी तुलना की जाए तो यह सत्य प्रकट होगा कि क्रांतिकारी जन उभार के समय गांधी–नेहरू की राजनीति एक छोर पर थी तो निराला की राजनीतिक दूसरे छोर पर।[1] सत्ता संबंध एवं समीकरण आदि सभी में कांग्रेस की नियत ने जहां लोगों का मुंह बंद संसार के आसपास कराया निराला उसकी असलियत

*** असिस्टेंट प्रोफेसर, एम. एम. एच. कॉलेज, गाजियाबाद।**

पहले ही समझ गए थे कि आजादी दरअसल सत्ता परिवर्तन का एक खेल मात्र है, जिसे फैज कहते हैं–

ये दाग–दाग उजाला ये शबगजीदा सहर
हमें इंतजार था जिसका ये वो सहर तो नहीं।

ताकि

अभी गरानी–ए–शब में कमी नहीं आई
नजाते–दीदा–ओ–दिल की घड़ी नहीं आई
चले चलो कि वो मंजिल अभी नहीं आई।[2]

ये कौन सी टीस है जो यह कहती है कि मंजिल अभी नहीं आई। क्या ये वही पीड़ा नहीं जिसे भगतसिंह ने गोरे अंग्रेजों की जगह काले अंग्रेजों का शासन या कि प्रेमचंद ने जॉन की जगह गोविन्द के हाथ में सत्ता आने की बात कही थी। क्या यही वो टीस है कि निराला अप्रैल 1946 से जुलाई 1949 तक चुप हैं, कोई कविता नहीं लिखते।

यह वास्तव में बेहद उलझाने वाला प्रश्न है कि निराला जैसा जागरूक कवि बेहद साफ ढ़ंग से राजनीति एवं सत्ता के खेल को समझने वाला व्यक्ति चुप शांत एवं उदास होकर भक्ति, प्रपत्ति एवं विनय में शरण खोज रहा है। क्या यह केवल एक सपने के टूट जाने जैसा है। इसी बीच निराला की विक्षिप्ति की धारणा इसे एक नया मोड़ दे देती है। नामवर जी जैसे आलोचक 'हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियां' (1962) में लिखते हैं कि 'तरह–तरह के स्वरों में कुछ प्रयोग करते हुए विक्षिप्त चित्त निराला किसी रहस्य शक्ति की 'अर्चना' और 'आराधना' करने लगे। पंत जी की तरह निराला के भी वेदांती संस्कार कमजोरी में उमड़ आए।[3] रामविलास जी भी इसे निराला की आत्मप्रवंचना, काल्पनिक ईच्छापूर्ति एवं छायावादी पलायनवृत्ति मानते हैं। दूधनाथ सिंह इसे समाज के साथ मिसफिट होने से उपजी टूटन को 'प्रभु की अमर फैंटेसी' में तिरोहित होते हुए देखते हैं।

क्या यह वास्तव में ऐसा ही है। वे निराला जो जीवन को एक लंबे रण की तरह जीते हैं वे शरण की कविताओं में पनाह खोज रहे हैं। कठिन समय में कड़ी मार के बीच व्यूह में अकेले टिके रहने वाले निराला का यह चित्र सही नहीं लगता। यह और बात है कि समय के षड्यंत्रों में निराला संशयशील हों। सत्ता के, शक्ति के दुष्चक्र में स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर फिर संशय या कि रावण जय भय की कल्पना में निराला को ढ़ाल की तरह तनी खाल के झूल जाने का अहसास भी हो सकता है, उन्हें आजाद भारत में हार का और तीखा अहसास होने लगा है–

हो गया व्यर्थ जीवन
मैं रण में गया हार।

ताकि

हार गया
ज्यों मैं उस पार गया।

और इसी कारण 'दुखता रहता है अब जीवन।'

स्वतंत्रता के बाद आजाद भारत की परिणति देखकर, सत्ता के स्वरूप और जनता के शोषण के बीच निराला को दिखता है कि महंगू, चतुरी और बिल्लेसुर हार गए हैं, चोटी की पकड़ वालों के काले कारनामों से लोग स्वार्थ सिद्धि में लगे हुए हैं, बाकी लोग व्यर्थ हैं। वे कहते हैं

भर गया है जहर से
संसार जैसे हार खाकर
देखते हैं लोग लोगों का
सही परिचय न पाकर।[4]

और जिन्हें पाथेय माने बैठे थे वे ही राह के ठग ठाकुर निकले। वे सबकुछ को लूटने में लगे हैं– ठग ठग कर मन को– लूट गए धन को। निराला की नजर में 1945 तक जो लोग 'वेश रूखे, अधर सूखे, पेट भूखे आज आए', थे 1952 आते–आते भग्न तन, रूग्ण मन–जीवन विषण्ण वन' हो गए। स्वातंर्त्योत्तर गीतों में हम देखते हैं कि अचानक ही निराला के यहां हिंसक पशुओं के बिंब बहुतायत में आने लगते हैं। असुरक्षा, भय, अनिश्चितता, निराशा, हिंसा, लूट कपट, द्वेष, दमन यह सब निराला की कविताओं में अचानक ही आजादी के बाद तेजी से आना शुरू हो जाते हैं। निराला लिखते हैं

'विपुल काम के जाल बिछाकर
जीते हैं जन जन को खाकर
रहूं कहां मैं ठौर न पाकर।[5]

इसी पर अवधेश प्रधान लिखते हैं कि– 'निराला की कविताओं में अब न तो विप्लव के वीर को पुकारने वाला किसान था, न गोड़इत जमीन सुंघाने वाला बदलू अहीर, न डटकर बोलने वाला झींगुर। बड़े–बड़े छलियों को भगाने वाले मसूरिया और बलई की जगह एकाकी किसान था जो धर्म–कर्म को साखी देकर रो रहा था।... नेहरू सरकार ने जहां किसानों की तकदीर पलट देने का दावा किया था उसी के नीचे निराला ने अपनी टिप्पणी जड़ दी थी– सूख गया किसान एकाकी।'6 शायद वार–वार से जो जन हारा था उससे वह काला काटे नहीं कट रही थी, वह गहन थी, दुस्तर थी। निराला को महसूस होता है कि

'आशा आशा मरे
लोग देश के हरे!
देश पड़ा है जहां
सभी झूठ है वहां
भूख प्यास सत्य
होंठ सूख रहे हैं अरे।'[7]

ऐसी ही पीड़ा, भय, संत्रास और पराजय बोध से थका मन भक्ति में शरण खोजता है। लेकिन वस्तुतः शरण वहां भी नहीं, संशय वहां भी है, क्यों! क्योंकि ऐसी दशा देश की विमल लोचनो द्वारा नहीं देखी जा सकती। कर्म फल की व्याख्या आजादी के बाद के भारत पर लागू नहीं। यहां मुक्ति की कामना इकलौती निराला की नहीं हो सकती और जन मुक्ति के लिए नई मौलिक कल्पना करनी होगी। इसीलिए निराला के कई भक्ति गीत या तो ऐसी ही जनमुक्ति की चिंता एवं उसके आकांक्षा से जुड़े हैं या फिर किसी नई रणनीति की तलाश में बेकल हैं। वह भक्ति से अपनी व्यक्तिगत मुक्ति नहीं

खोज रहे वे उससे पूरे भारतवर्ष की, उसकी गरीब जनता की, उसके दलित जन की व्यापक मुक्ति की तलाश में हैं।

इसी तरह उनके ऋतु गीत भी अब पहले जैसे नहीं रहे अबे बेहद संयत एवं शुरुआती उत्साह से रहित लगते हैं पहले वाला नायक बादल शायद अब निराला का मित्र है जिससे भी अपने मन की दुख की खुशी की बातें कह सकते हैं

बादल रे, जी
तड़पे किए उपाय सैकड़ों तन के
मन केय चरण मिले सज्जन केय
व्यर्थ प्रार्थना जैसे अब हैं
पंजर पिंजर करके।[8]

शायद निराला की ऐसी कविताओं को देख कर ही नामवर सिंह ने अपने पूर्व धारणा को सुधारते हुए 1997 में अपनी राय बदली और कहा कि 'मैं चाहता हूं कि साहित्य के पाठक के नाते आलोचना कर्म करने के नाते इस पर गहराई से विचार किया जाना चाहिए की इस दशक की जो नई कविता लिखी गई है अज्ञेय की, शमशेर की, सप्तक के कवियों की, कि इसके समानांतर निराला की कविता का क्या महत्व है?' इस बात की पड़ताल करते हुए वे नेहरू के स्वर्ण युग और स्वातंर्त्योत्तर राष्ट्र निर्माण के उत्साह और उमंग के बीच निराला की नरक यात्रा को, अंधकार को वास्तविक मानकर एवं पागलपन ना मानते हुए निर्णय देते हैं कि 'मुझे लगता है कि निराला के भक्ति गीत भारतीय ढांचे में भारतीय मानस में उत्पन्न होने वाली आधुनिक बोध की, उस आधुनिक कविता की सृष्टि कर रहे थे।'[9]

यह ऐसे अपराजेय कवि की काव्य यात्रा का एक महत्वपूर्ण पड़ाव है, यह ऐसे मन की कविता है जो थकता नहीं, जो दैन्य नहीं जानता, ना ही विनय। रामविलास जी एवं दूधनाथ जी दोनों ही यह मानते हैं कि निराला का सहज भाव दैन्य नहीं है फिर 'अनिवार्यतः विफल होने वाली प्रार्थना हो' या कि 'प्रभु की अमर फेंटेसी' में कवि के अवसान को थोड़ा और समझने की जरूरत रह गई है। निराला का आशावादी जुझारू स्वर भी हमें सुनाई देता है

क्षणिकता चिर–धनिक की है,
पणिकता जग–वणिक की है,
राशि जैसे कणिक की है,
वाम जैसे है निरामय।[10]

जो मोहभंग की चेतना साठ के दशक में आकर उभार पाई उसके बीज निराला के यहां ही मिलने लगते हैं। सत्ता, सरकार और आजादी पर निराला के लगाए गए प्रश्न चिह्न बाद में रघुवीर सहाय, धूमिल और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना द्वारा मजबूती से खड़े किए गए। राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन की परिणति और देसी सत्ता के पाखंड विखंडन को निराला के अंतिम दौर की कविताएं उनकी (निराला की) विक्षिप्ति, भक्ति–तिरोधान, अद्वैत–संस्कार–जागृति के भुलावों के बीच बड़े निर्मम ढंग से उद्घाटित एवं विश्लेषण करती हैं। शायद इसीलिए रामविलास जी की इस धारणा निराला कि 'निराला की क्रांति संबंधी भाव धारा सन 47 के बाद भी प्रवाहित रहती है'[11] को और निराला की

स्वातंत्रयोत्तर रचनाशीलता का विश्लेषण करते हुए सुधांशु कुमार मालवीय लिखते हैं कि 'कोई भी निर्विवाद रूप से यह मानने के लिए विवश होगा कि निराला ने असंदिग्ध रूप से अपनी प्रतिबद्धता, पक्षधरता, अपनी निष्ठा, अपने सरोकार और उनकी घोषणाओं की सच्चाई (जेनुइनिटी) को शत–प्रतिशत खरे सोने की तरह प्रमाणित कर दिया। आजादी के बाद के साहित्यिक परिदृश्यों में निराला इस दृष्टि से अद्वितीय एवं निराले ही हैं। वे अकेले ऐसे साहित्यकार हैं जो 1947 में मिली आजादी और उसके बाद निर्मित होने वाली व्यवस्था के ऊपर निःसंशय रूप से, बिना किसी दुविधा के कट्टम काट का निशान लगाकर, उसे खारिज कर देते हैं। आज का जो यथार्थ है उसे देखते हुए मानना पड़ेगा कि निराला का आकलन, उनका स्टैंड और उनका रवैया बहुत सही था। उनका इस प्रकार का पदारोपण जिस अटूट विश्वास, साहस और वीरता से संभव हो सका वह भी बिरला ही देखने को मिलेगा। निराला के यहां कोई द्वैत, छल– कपट, दुराव– छिपाव, भटकाव और अवसरवाद का लेश भी नहीं मिलेगा।[12]

शायद इसीलिए निराला के आजादी के बाद के गीत हमें किसी भक्ति की ओर ले जाते हुए नहीं लगते। वे विनय के भीतर चल रहे एक योद्धा के रणनीति तरह लगते हैं, वे अभी भी अपने जीवन युद्ध में अपने समकक्षों के साथ खड़े हुए हैं और अभी भी वे एक बेहतर भविष्य की कल्पना के लिए नई शक्ति की तलाश में हैं। इसीलिए उनकी कविताएं उनके शाश्वत जीवन रण का एक अलग कोण प्रस्तुत करती हैं, शरण का नहीं। इसीलिए मुझे लगता है कि इन कविताओं को ज्यादा गंभीरता और ज्यादा गहराई से समझे जाने की जरूरत अभी भी शेष है।

संदर्भ सूची :–

1. रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना, भाग 2, पेज नंबर 157।
2. फैज, सारे सुखान हमारे (सुबहे आजादी), पेज नंबर 76।
3. डॉ नामवर सिंह, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, पेज नंबर 83।
4. निराला, निराला रचनावली खण्ड 2,संपादक रामविलास शर्मा, पेज नंबर 378।
5. वही, पेज नंबर 347।
6. अवधेश प्रधान, टूटें सकल बंद कवि केरू निराला के कार्य में मुक्ति के सर्वर, अभिप्राय (संयुक्तांक 22–23), पेज नंबर 107।
7. निराला, निराला रचनावली खण्ड 2,संपादक रामविलास शर्मा, पेज नंबर 349।
8. वहीं, पेज नंबर 459।
9. डॉ नामवर सिंह, निरालारू नई अर्थव्यवस्था की तलाश, हिंदुस्तानी (अप्रैल–जून 1997), पेज नंबर 53– 54।
10. निराला, निराला रचनावली खण्ड 2,संपादक रामविलास शर्मा, पेज नंबर 381।
11. डॉ रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना, द्वितीय खंड, पेज नंबर 159।
12. सुधांशु कुमार मालवीय, राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन की परिणतियां और निराला की कविताओं का अंतिम दौर, अभिप्राय (संयुक्तांक 22–23) पेज नंबर 170।

निर्मला पुतुल का काव्य-संसार : विचार एवं चुनौतियां

डॉ. योगेश कुमार तिवारी *

निर्मला पुतुल मूलतः आदिवासी कवयित्री हैं। उन्होंने संथाली भाषा में काव्य रचनाओं से अपने साहित्य का श्री–गणेश किया। निर्मला पुतुल ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ आदिवासी जीवन, सामाजिक परिवेश, सांस्कृतिक परम्परा और आर्थिक स्थिति आदि को देखा व परखा है, इसलिए उनके काव्य संसार में आदिवासी समाज का सच उजागर होता है। आदिवासी लेखन के विषय में रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि *'आज आदिवासियों में चेतना जगी है। वह नई–नई विचार धाराओं और क्रान्तियों से परिचित हुआ है, जिनके परिप्रेक्ष्य में वह अपनी नई पुरानी स्थितियों को तोलने लगा है। उसमें अपने होने न होने, अपने हकों के अस्तित्व की वर्तमान स्थिति, अपने साथ हुए भेदभाव व अन्याय का बोध भी जगा है। यही बोध उसके साहित्य में झलक रहा है।'*[1] हिन्दी साहित्य में अब तक जो भी आदिवासी जीवन पर आधारित साहित्य आया, उनमें जुड़े तमाम पात्र, स्थान, सभी प्रकार की घटनाएं, विचार, आन्दोलन आदि भले ही सत्य हो या काल्पनिक हो; लेकिन कहीं न कहीं ये सोचने की लिए विवश करती हैं कि हाशिए के समाज में एक ऐसा समाज है; जो आज अपने अस्तित्व एवं अस्मिता के लिए संघर्ष कर रहा है; क्योंकि आदिवासियों के जीवन की हर अवस्था में उनकी कलाओं और लोकगीतों का महत्व है; किन्तु वर्तमान में वह धीरे–धीरे समाप्त होने के कगार पर खड़ी हुई है।

निर्मला पुतुल के तीन काव्य संग्रह 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' 2004 को भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 'अपने घर की तलाश' 2004 को रमणिका फाउन्डेसन, एवं 'फूटेगा एक नया विद्रोह' प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत काव्य संग्रहों में समकालीन दौर के सभी विषय जैसे स्त्री, आदिवासी, पर्यावरण, विकास, भूमण्ड़लीकरण, राजनीतिक हस्तक्षेप आदि व्यवस्थाओं के खोखलेपन का सच उजागर होता है। उनके काव्य संग्रहों में वैभव, वेदना और प्रतिरोध आदि की बहुत ही मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। काव्य संग्रह **'नगाड़े की तरह बजते शब्द'** के विषय में मैनेजर पाण्डेय कहते हैं कि *'इस संग्रह की कविताओं में शब्द सचमुच आदिवासी जीवन के लोकप्रिय वाद्य नगाड़े की तरह बजते हैं और सुनने वाले को जितना आकर्षित करते हैं उतना ही प्रभावित करते हैं।'*[2] आदिवासी परिवेश की ऐसी पुकार ने हिन्दी साहित्य के चिन्तन को एक नयी जमीन दी है; क्योंकि इसमें लगातार छले गये लोगों की असीम वेदना हैं, बेवाक प्रश्न हैं, नाराजगी है और सबसे बड़ी बात जो छल उनके साथ हुआ; उसे समझने व बूझने की चेतनात्मक लहर भी है। निर्मला जी लिखती हैं–

'ये वे लोग है जो
हमारे ही नाम पर लेकर
गटक जाते है हमारे हिस्से का समुद्र' [3]

साथ ही आगे कहती है कि–

'ये वे लोग हैं जो हमारे बिस्तर पर करते हैं
हमारी बस्ती का बलात्कार

* अतिथि विद्वान, हिन्दी विभाग, पं. शम्भूनाथ शुक्ला विश्वविद्यालय, शहडोल (म.प्र)

और हमारी जमींन पर
खड़े होकर पूछते हैं हमसे हमारी औकात!
ये वे लोग है जो मेरी कविताओं में भी
तलाशते हैं मेरी देह!'......[4]

इसके अतिरिक्त निर्मला पुतुल आदिवासी समाज में चेतना फैलाने का काम भी किया है। अत्याचार और अन्याय के खिलाफ प्रतिरोध के स्वर मुखरित होने लगे हैं। इसलिए जो उनकी कविताओं में चित्रित है, वह समस्त समाज का चित्र है। निर्मला पुतुल जी **'बिटिया मुर्मु के लिए'** कविता में आदिवासी स्त्रियों का आह्वान करती है जैसे–

'उठो कि अपने अंधेरे के खिलाफ उठो
उठो अपने पीछे चल रही
साजिश के खिलाफ
उठो कि तुम जहां हो वहां से उठो
जैसे तूफान में बवंडर उठता है
उठती है जैसे राख में दबी हुई चिंगारी।' [5]

आज हमारा देश विकास की नई–नई ऊँचाइयों को छू रहा है, लेकिन आदिवासी समाज की स्थिति असहनीय एवं दयनीय आज भी बनी हुई है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में यदि उनका सम्बन्ध उनकी कलाओं से टूट जाता है, तो वह उनके ह्रास की अवस्था है और फिर उनकी जो संस्कृति है उसमें परिवर्तन आना स्वाभाविक हो जाता है; इसलिए प्रौद्योगिकी, भूमण्डलीकरण और आधुनिकता ने आदिवासी उपस्थिति को गौण बना दिया है। जिससे उनकी मूल संवेदनाएं सिसक रही हैं। आज आदिवासी समाज अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक सभी क्षेत्रों में कई प्रकार की समस्याओं से जूझ रहा है और अपनी पहचान के लिए संघर्ष कर रहा है। आदिवासी की पहचान 'आदिवासी' कहने और होने से है। आदिवासी स्वयं अपनी पहचान 'आदिवासी' शब्द में देखता है। इस पर निर्मला पुतुल कविता के माध्यम से अपना पक्ष रखती है–

'कभी ये लोग आते हैं
कभी वो लोग आते हैं
कोई इधर खींचता है
कोई उधर।
कोई जनजाति कहता है
तो कोई पुकारता है कहकर वनवासी
तैयार नहीं हैं वे सब के सब
आदिवासी मानने को हमें!' [6]

आज हम कहने को तो उत्तर–आधुनिकता पर जी रहे हैं और विकास के लक्ष्य प्राप्त करने का दावा भी कर रहे हैं; किन्तु किसी समाज की प्रवृत्ति और संस्कृति को मिटाकर या उसका गला घोटकर विकास किया जाए तो जो परिवर्तन आएगा, क्या कभी सार्थक होगा? कहना मुश्किल है। क्या कारण है कि सभ्यता की तमाम चकाचौंध के बीच यह आदिवासी समाज खुद को उपेक्षित एवं

अपमानित महसूस करता है। विकास की प्रक्रिया के साथ आज भी उनके संतुलन और समीकरण नहीं बैठ पा रहे हैं। इस समाज में भय और असुरक्षा की भावना आज भी है, क्योंकि पता नहीं कब उन्हें विकास के नाम पर भेंट चढ़ा दिया जाए यानी विकास के नाम पर फिर कहीं उन्हें विस्थापित कर दिया जाए। निर्मला पुतुल अपनी कविता **'एहसान लेने से पहले सोचना पड़ेगा हमें**' के माध्यम अपना पक्ष रखती हैं और सोचने के लिए विवश भी करती है। वह लिखती है–

'अगर हमारे विकास का मतलब
हमारी बस्तियों को उजाड़कर कलकारखाने बनाना हैं
तलाबों को भोथकर राज्यमार्ग
जंगलों का सफाया कर ऑफिर्स कालोनियां बसानी हैं
और पुनर्वास के नाम पर हमें
हमारे शहर की सीमा से बाहर हाशिए पर धकेलना है
तो तुम्हारे तथाकथित विकास की मुख्यधारा में
शामिल होने के लिए
सौ बार सोचना पड़ेगा हमें!' [7]

वह आदिवासियों के विकास हेतु बनाए गए उन आधुनिक पैरामीटरों को नकारती हैं; जिनके कारण आदिवासियों को अपने घर, गांव, जंगलों से विस्थापित होना पड़ा। वह लिखती हैं–

'हमारे संसाधनों को हमसे छीनकर
विकास के ऊँचे शिखर तक पहुँचे हैं वे
जानती हूं, सब जानती हूं
क्षमा करना
नकारती हूँ तुम्हारे इस विकास प्रस्ताव को
जो पटना, रांची, दिल्ली से बनाकर लाए हो तुम हमारे लिए!' [8]

भौतिक विकास और बड़ी बड़ी परियोजनाओं की स्थापना के लिए भूमि की मांग में अभूतपूर्व इजाफा हुआ। ज्यादा से ज्यादा भूमि की जरूरत के कारण जंगलों का सफाया होने लगा और उनमें रहने वाले आदिवासियों को विस्थापित किया जाने लगा एवं पुनर्वास के नाम पर विस्थापित आदिवासी वर्तमान में शहर के किसी कोने पर झुग्गी–झोपड़ियों में नारकीय जीवन जीने के लिए विवश होना पड़ा। निर्मला पुतुल जी ने विस्थापन की पीड़ा को भोगा है, इसलिए इस प्रकार के विकास का भरसक विरोध प्रकट करती है। अपनी कविता में बड़ी निर्भीकता के साथ इस बात को उजागर भी किया है–

'हम चाहते रहे संतुलन
तुम करते रहे असंतुलित
तोड़ते रहें एकता
मिटाते रहे हमारी पहचान
खदेड़ते रहे हमारे ही जंगल से हमें
उजाड़ते रहे विकास के
नाम पर हमारी बस्तियां
बसाने के नाम पर ढेलते रहे हाशिए पर!' [9]

आज विस्थापन की लगातार विकराल होती समस्या को बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा विकास की विफलता के रूप में देखा जा रहा है। इसके पीछे का तर्क यह है कि अब तक विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया एक खास तबके के लिए ही फायदेमंद सिद्ध हुई है।

अज्ञानता और गरीबी आदिवासियों इस दयनीय स्थिति के सबसे बड़े कारक के रूप में है। विकास एक ऐसा अधिकार है; जिससे किसी भी व्यक्ति या समूह को वंचित नही किया जा सकता है। विकास की इन योजनाओं की विकृतियों और इनमें उपस्थित समाज के गहरे भावबोध को रेखांकित करने की आवश्यकता वर्तमान समय में है। निर्मला पुतुल अपनी कविता **'खून को पानी कैसे लिख दूँ'** के माध्यम से अपना प्रतिरोध व्यक्त करती है और प्रश्न भी उठाती है–

'नहीं चाहिए हमें उनका एहसान
उठा ले जाए अपनी व्यवस्था
ऐसा विकास नहीं चाहिए हमें
नहीं चाहिए ऐसा बदलाव
नहीं चाहिए।
पर तुम्हीं बताओं,
यह कैसे सम्भव है?
आँख रहते अंधी कैसे हो जाऊ मैं?
कैसे कह दूँ रात को दिन
खून को पानी कैसे लिख दूँ!' [10]

हमारे देश का दुर्भाग्य है कि आजादी के इतने वर्षों के बाद भी जो भी विकास का जो लक्ष्य रखा गया; अब तक हाशिल नहीं किया जा सका। जिससें समाज के सभी दीन–हीन तथा वंचित तबके का कल्याण हो सके। आदिवासी समाज की ओर जिसका भी ध्यान गया उसने केवल उपयोग भर किया। विकास के बड़े बड़े वादे किए गए। हर पंचवर्षीय योजनाओं में उनके लिए कुछ न कुछ विकास के नए पैमाने बनाए गए परन्तु हुआ क्या? वही 'ढाक के तीन पात' यानी केवल विकास और अधिकार के नाम पर केवल उनका शोषण, और दोहन हुआ, केवलरूप भर बदले। बस उन्हें नुमाइश बनाकार पेश किया गया और उनके नाम का प्रयोग किया गया। प्रस्तुत कविता के माध्यम से इस बात के मर्म को समझा जा सकता है–

'तुम्हारी भाषा में बोलता वह कौन है?
जो तुम्हारे भीतर बैठा
कुतर रहा है तुम्हारे विश्वास की जड़े?
दिल्ली की गणतंत्र की झाकियों में
अपनी टोली के साथ नुमाइस बनकर
कई–कई बार पेश किए गए तुम
पर गणमंत्र नाम की
कोई चिड़िया
कभी आकर बैठी तुम्हारे घर की मुण्डेर पर!' [11]

2000 में झारखण्ड़ राज्य की स्थापना के बाद वहां की झारखण्ड़ी आदिवासी जनता को विश्वास हो गया कि अब तो उनको स्वराज मिल गया है। अब उन्हें लगने लगा कि जल, जंगल पर उनका ही राज होगा और उनका विकास होगा। आदिवासियों को उनकी उपज का बेहतर मूल्य मिलेगा, आदिवासियों के सांस्कृतिक मूल्यों और सिद्धान्तों की रक्षा होगी; क्योंकि 'अबुआ राज' की मांग करने वाले आदिवासी नेता शिबू सोरेन, बाबूलाल मराण्डी जैसे लोगों के हाथों में सत्ता होगी; जिन्होंने आदिवासी समाज के हितों के लिए कई लड़ाईयां लड़ी और कई आहुतियां भी दी। इन आदिवासी नेताओं के जो सपने थे, इनके सत्तारूढ़ होते ही राजनीति के दलदल में पता नही कहां विलुप्त हो गए। वह अपने उन उद्देश्यों को भूला बैठे; जिन उद्देश्यों के कारण ही आदिवासी समाज ने उन्हें अपना नेता चुना और उनके एक इशारे में अपनी जान लड़ा देने की सौगन्ध ली थी; परन्तु आज वो सत्ता का सुख भोग रहे हैं। उनके आचरण और व्यवहार में वही हनक और हाव–भाव अब देखने को मिलने लगी जो गैर आदिवासी नेताओं में पाई जाती है। इसी कारण पिछले 20 सालों में झारखण्ड़ के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन पहले से कहीं ज्यादा तीव्र गति से प्रारम्भ हो गया। निर्मला पुतुल ने भी नवगठित झारखण्ड़ राज्य की घोषणा के बाद कुछ सपने देखे जो धीरे–धीरे निराधार साबित होते चले गए। उनकी कविता **'एक खुला पत्र : झारखण्ड़ भाईयों के नाम**' में ये बात परिलक्षित होती है–

'यह सच है कि आज
जिन आंखें ने देखा था पहली बार
अलग राज का सपना
सुराज का सपना
जमींन जंगल पर
अपने राज का सपना
सूदखोरी, शोषण और अत्याचार से
मुक्ति का सपना!' [12]

ऐसा नहीं है कि कवयित्री केवल बाहरी लोगों के द्वारा हो रहे शोषण के खिलाफ ही लिखती हो, अपितु आदिवासी समाज में व्याप्त जड़ता, अन्धविश्वास, अज्ञानता, स्त्रियों पर हो रहे शोषण और वर्श्चववादी प्रवृत्ति की विकृतियों की ओर भी वो ध्यान केन्द्रित करती है; क्योंकि आदिवासी समाज अज्ञान और अशिक्षा के कारण अपनी रूढ़ियों, पंरपराओं के चंगुल से बाहर नहीं आ पाया है। कवयित्री निर्मला पुतुल की कविताओं में आदिवासी एवं स्त्री दोनों होने की पीड़ाओं की भी अभिव्यक्ति हुई है, इसलिए जब नारी के हक की बात आती है तो कवयित्री पूरी संवेदना, वेदना और आक्रोश के साथ अपनी लेखनी से सशक्त हस्ताक्षर प्रस्तुत करती हैं। जैसे–

'लूट की चर्चा न करो बहन
मिहिजाम के गोआकोला की
'सुबोधिनी मराण्डी' की तरह तुम भी
अपने मगजहीन पति द्वारा
भरी पंचायत में डायन करार कर
दण्डित की जाओगी

माझी, हाड़ाम', 'पराणिक','गुडित',
'ठेकदार' 'महाजन' और
ज्ञान–गुरूओं के षड़यंत्र का शिकार बन
इन गूंगे–बहरों के बस्ती में
किसे पुकार रही हो सजोनी किस्कू? [13]

साथ ही आगे लिखती हैं–

'भरी पंचायत में सरेआम
नचा दी जाओगी नंगी
'पगलू मराण्डी' की तरह
बस रहने दो
कुछ मत कहो सजोनी किस्कू
सब जानती हूं मैं
सब जानती हूं!' ![14]

निर्मला पुतुल की कविताओं का स्वर मूख्यतः प्रतिरोध का स्वर है। यह प्रतिरोध का स्वर पितृसत्तात्मक समाज के वर्चश्ववादी सोच के खिलाफ भी है; जो स्त्री के अस्तित्व और अस्मिता से जुड़ा हुआ है; और स्त्री की गरिमा व सम्मान का सूचक है; परन्तु पितृसत्ता की वजह से कुछ जटिल प्रश्न केन्द्र में नहीं आ पाते हैं; जिसके कारण उसे अपने ही घर में यातनापूर्ण जीवन जीने के लिए विवश होना पड़ता है। जिसमें स्त्रियों की पीड़ा और संवेदना के साथ पितृसत्ता की कुरूपता है। इसलिए आदिवासी स्त्रियों के मन–मानस की चिन्ताओं को विषय बनाकर कवयित्री ने स्त्री जगत की ओर से प्रश्न करती हैं–

'क्या तुम जानते हो
एक स्त्री के समस्त रिश्ते का व्याकरण?
बता सकते हो तुम
एक स्त्री को स्त्री के दृष्टि से देखते
उसके स्त्रीत्व की परिभाषा?
अगर नहीं
तो फिर जानते क्या हो तुम
रसोई और बिस्तर के गणित से परे
एक स्त्री के बारे में........?' [15]

कवयित्री को इस बात का आक्रोश है कि आदिवासी समाज का जो प्रतिनिधित्व कर रहें है, वो भी दिकुओं और बाहरी लोगों की बातों में आकर थोड़े से लालच में अपने ही समाज को गिरवी रख देते हैं। इसे कवयित्री समझ नही पाती कि क्या अन्धे और बहरे हैं जो दिकुओं की बातों को समझ नही पाते या फिर वे इतने भोलेभाले है कि कुछ भी जानने की कोशिश नहीं करते या फिर सब कुछ जानते हुए वह उन परिस्थितियों के वशीभूत होकर लाचार हो जाते हैं। जिसके कारण वह अपनी महिलाओं और लड़कियों को चन्द रूपयों और विदेशी शराब के बदले उन्हें उन लोगों को सौंप देते हैं जो उनका शारीरिक शोषण करने के उपरान्त दिल्ली, कलकत्ता, मुम्बई जैसे महानगरों में ले जाकर बेंच देते हैं। इन बातों से कवयित्री बेहद द्रवित है। अपने समाज में व्याप्त इस बुराई को

धिक्कारती है और जागृत करने का प्रयास करती है। अपनी कविता **'चुड़का सोरेन से'** के माध्यम से अपने समाज को आगाह करती है–

कैसे बिकाऊ है
तुम्हारी बस्ती का प्रधान
जो सिर्फ एक बोतल विदेशी दारू में
रख देता है
पूरी बस्ती को गिरवी
और ले जाता है
लड़कियों को गठ्ठर की तरह
लादकर अपनी गाड़ियों में
तुम्हारी लड़कियों को
हजार–पांच सौ
हथेलियों पर रखकर![16]

अतः स्पष्ट है कि निर्मला पुतुल की कविताएं अतिशयता की जगह आदिवासी जीवन के यथार्थ पर ही आधारित हैं; जिसमें अन्याय, दमन, शोषण, सामंतवाद, पूंजीवाद एवं कुत्सित राजनीति की स्वार्थ लोलुपता का विरोध है, साथ ही उनमें स्वतंत्र लोकतंत्र में समानता, नारी अधिकारों की मांग एवं आदिवासी समाज के उत्थान के लिए परिवर्तनकारी स्वर निहित हैं। निर्मला पुतुल की कविताएं आदिवासियों एवं आदिवासी स्त्रियों को चौकन्ना करती हैं और साथ में यह कहना भी प्रमुख है कि उनकी खामोशी को तोड़ती हैं। जो लोग अपनी होशियारी के बल पर उनका शोषण करते आ रहे हैं; उनको सावधान हो जाने का संकेत करती हैं और कथाकथित सभ्य एवं संभ्रान्त बने समाज के लिए अपनी कविताओं के माध्यम से चुनौती भी प्रस्तुत करती हैं। जहां आज इस भूमण्ड़लीकरण के परिवेश में आदिवासी समाज एक मंड़ी बन गया है, वहां कवयित्री में उस समाज की सहजता, कोमलता और सुन्दरता को बचाए रखने के लिए प्रयासरत है।

सन्दर्भ–सूची :–

1. आदिवासी साहित्य यात्रा – सं. रमणिका गुप्ता पृ. 05।
2. कथादेश, संपादक शैलेन्द्र सागर ,अक्टू0–दिस0 2011, पृ0–229।
3. आदिवासी स्वर और नया शताब्दी, संपा. रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली, 2014, पृ. 77।
4. वही, पृ. 77।
5. वही, पृ. 72–73।
6. निर्मला पुतुल, अपने घर की तलाश में, रमणिका फाउन्डेसन, नई दिल्ली, संस्करण 2004, पृ. 108।
7. कथादेश, संपादक शैलेन्द्र सागर ,अक्टू0–दिस0 2011, पृ. 185।
8. वही, पृ. 185।
9. निर्मला पुतुल, अपने घर की तलाश में, रमणिका फाउन्डेसन, नई दिल्ली, संस्करण 2004, पृ. 93–94।
10. वही, पृ. 107।
11. समकालीन कविता, संपा. हरिराम मीणा, अलख प्रकाशन, जयपुर, संस्करण 2013, पृ. 28।
12. निर्मला पुतुल, अपने घर की तलाश में, रमणिका फाउन्डेसन, नई दिल्ली, संस्करण 2004, पृ. 68।
13. आदिवासी स्वर और नया शताब्दी, संपा. रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली, 2014, पृ. 74।
14. वही, पृ. 74।
15. वही, पृ. 72।
16. वही, पृ. 75।

असम के हिंदी भाषियों का सामाजिक-जीवन

डॉ. जाहिदुल दीवान *

किसी भी क्षेत्र में जब बाहर से लोग आकर बसते हैं, तो स्थानीय लोगों के साथ मिलने जुलने में उनको समय लगता है। इसी संदर्भ में, प्रस्तुत आलेख में, हम बात करनेवाले हैं– असम के हिंदी भाषी लोगों के सामाजिक जीवन पर। वर्तमान असम में हिंदी बोलनेवाले कई समुदाय हमें मिलेंगे, लेकिन उनमें से कुछ समुदाय ऐसे हैं जिनकी मातृभाषा हिंदी है। उल्लेखनीय है कि हिंदी में संवाद करनेवाले अधिकांश असमवासी लोगों की मातृभाषा हिंदी नहीं है। असम में रहनेवाले जिन लोगों के संवाद की भाषा हिंदी है, उनमें सिख, मारवाड़ी और बिहारी समुदायों के नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इन समुदायों की मूल भाषा इनके संवाद की भाषा से बहुत अलग हो सकती है, लेकिन संवाद करते समय वे हिंदी का मानक रूप 'खड़ीबोली' हिंदी के प्रयोग करने का प्रयास करते हैं। इसलिए भाषा की दृष्टि से असम के प्रवासी समुदायों के बीच एकरूपता दिखाई देती है, लेकिन वास्तविकता इसके बिलकुल विपरीत है। हमने अभी जिन तीन समुदायों के संदर्भ में बात की– ये समुदाय अपनी भाषा–संस्कृति, रहन–सहन, धर्म–दर्शन आदि की दृष्टि से एक दूसरे से काफी अलग हैं, लेकिन भाषागत एकरूपता के आधार पर असम के स्थानीय लोगों ने उन्हें 'हिंदी भाषी' के खांचे में डाल दिया है। यहां हम उन समुदायों के सामाजिक जीवन की बात कर रहे हैं। सामाजिक जीवन की दृष्टि से देखा जाए, तो सिख, मारवाड़ी और बिहारी समुदाय के बीच बहुत बड़ा अंतर है। आगे इस मुद्दे पर विस्तार से चर्चा करते हैं...

सबसे पहले बात करते हैं असम में रहनेवाले सिख समुदाय की। ज्ञात तथ्य के अनुसार असम में सिख समुदाय का इतिहास लगभग 200 साल पुराना है। कहा जाता है कि सन् 1820 में जब असम पर म्यांमार (बर्मा) की सेना ने चढ़ाई की थी, तब असम के राजा चंद्रकांत सिंह थे। बर्मा की शक्तिशाली सेना से शिकस्त मिलने के बाद राजा चंद्रकांत सिंह भागकर कलकत्ता जाते हैं, वहां से फिर वह सुदूर पंजाब के अपने मित्र राजा रणजीत सिंह से मदद की गुहार लगाते हैं। अपने मित्र की विपत्ति को समझते हुए पंजाब के राजा रणजीत सिंह ने सत्येन्द्र सिंह नामक एक सूबेदार के नेतृत्व में 500 सिख सैनिकों का एक जत्था असम के लिए रवाना कर दिया था। किसी–किसी का यह भी कहना है कि सत्येन्द्र सिंह के साथ 500 नहीं, बल्कि 5000 सैनिक आए थे। जो भी हो, लेकिन इस घटना से असम में सिखों के इतिहास का गहरा संबंध है। सत्येन्द्र सिंह के नेतृत्व में सिख सैनिकों और बर्मा की सेना के साथ वर्तमान असम के ग्वालपाड़ा नामक स्थान पर घमासान युद्ध होता है, जिसमें सत्येन्द्र सिंह वीरगति को प्राप्त होता है। सत्येन्द्र सिंह की पत्नी को सभी सिख 'माता जी' नाम से बुलाते थे। अपने पति की वीरगति प्राप्ति के बाद माता जी भी शस्त्र उठाती है, लेकिन बर्मा की शक्तिशाली सेना के सामने टिक नहीं पाती और युद्ध के मैदान से पीछे हटना ही उचित समझती है। अपने बचे–खुचे सैनिकों के साथ माता जी नदी के रास्ते ऊपरी असम की ओर रवाना हो जाती हैं और वहां से लगभग 250 कि.मि. की दूरी पर स्थित, वर्तमान असम के नगांव जिले के 'चापरमुख'

* पोस्ट डॉक्टोरल फैलो, भारतीय सामाजिक अनुसंधान परिषद्,(ICSSR) नई दिल्ली।

नामक स्थान पर पहुंचती हैं। उसके बाद चापरमुख में वे स्थायी रूप से रहने लग जाते हैं। आज चापरमुख में कई सौ सिख लोग रहते हैं। चापरमुख में एक गुरुद्वारा है, जो कि असम के सबसे पुराने गुरुद्वारा में दूसरे नंबर पर है, जिसका नाम 'गुरुद्वारा माताजी' है।

इसी से जुड़ी एक दूसरी घटना यह कहती है कि चापरमुख से सूबेदार राम सिंह नामक एक व्यक्ति अपने कुछ साथियों के साथ नगांव जिले के ही दूसरा स्थान 'बरकोला' में जाकर बस गए थे। वर्तमान उस गांव को 'बरकोला सिंह गांव' नाम से जाना जाता है। बरकोला वह स्थान है जहां वर्तमान में सबसे ज्यादा असमिया सिख रहते हैं। कई सौ सिख परिवार वहां रहते हैं, जिनकी कुल जनसंख्या 2000 से अधिक बताई जाती है। बरकोला स्थित गुरुद्वारा का नाम 'केंद्रीय गुरुद्वारा' है, जिसकी स्थापना सन् 1820 बताई जाती है। संपूर्ण सिख रीति–रिवाजों का पालन करनेवाले असमिया सिख समुदाय, स्थानीय असमिया संस्कृति को भी अपने समाज–जीवन का अविच्छिन्न अंग मानते हैं। जहां वे गुरुद्वारे में सिख पर्व–त्योहार मनाते हैं, वहीं बृहत्तर समाज के साथ मिलकर बिहू उत्सव भी मनाते हैं। बोल–चाल, खान–पान, रहन–सहन आदि में किस प्रकार बरकोला के सिख समुदाय स्थानीय लोगों के इतने करीब पहुंचे? इस सवाल का जवाब भी हमें इतिहास के पन्नों पर ही ढूंढ़ना पड़ता है। सूबेदार राम सिंह बरकोला में जब रहने लगे थे, तो उन्होंने अपने साथियों की शादी असमिया महिलाओं से करवायी थी। तब से स्थानीय लोगों और सिखों के बीच पीढ़ी दर पीढ़ी शादियां हो रही हैं।

सिख समुदाय के लोग सामाजिक कार्य के लिए विशेष रूप से जाने जाते हैं। असम में असमिया सिख हों या पंजाबी सिख, सभी उनकी सामाज सेवा के कारण असम में सुविख्यात है। सिख समुदाय के कुछ लोग व्यापार के उद्देश्य से भी असम आए थे। ऐसे लोग आर्थिक रूप से संपन्न थे, इसलिए शिक्षा, चिकित्सा आदि क्षेत्रों में उन्होंने असहाय लोगों की मदद की। यही कारण है कि असम में सिख लोग, दूसरे हिंदी भाषियों की तुलना में, स्थानीय लोगों से अधिक घुलमिल पाए हैं।

सिखों की तुलना में मारवाड़ी लोगों की भिन्न प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। मारवाड़ी लोग मूलतः व्यवसायिक वर्ग से आते हैं, इसलिए उनकी जीवन शैली सिखों से बिलकुल अलग नजर आती है। सिख लोग परोपकार को अपने धर्म का अंग मानते हैं। लेकिन मारवाड़ी समुदाय के लोग ज्यादातर अपने समुदाय के बीच रहना पसंद करते हैं। असम के हिंदी भाषी लोगों में मारवाड़ी समुदाय का प्रमुख स्थान है। मारवाड़ी लोग असम में कई पीढ़ियों से रह रहे हैं, लेकिन जहां तक धार्मिक, भाषिक, सांस्कृतिक आचरण की बात है, तो मारवाड़ियों ने अपने पूर्वजों से प्राप्त परंपराओं को ही जीवित रखा है। असम में मारवाड़ियों का इतिहास सिखों के इतिहास से भी पुराना है। इतिहास के पन्नों को खंगाला जाएगा, तो पूर्वोत्तर भारत में मारवाड़ियों का इतिहास कुल 250 वर्षों से छोटा नहीं होगा। पूर्वोत्तर की ओर मारवाड़ियों की यात्रा कलकत्ता से शुरू होती है। उस पर हम फिर कभी चर्चा करेंगे, लेकिन इतना लंबा समय, जो असम में मारवाड़ियों ने बिताया हैय उस पर थोड़ी रोशनी डालना आवश्यक है।

आजादी से पहले असम का सांस्कृतिक परिवेश बिलकुल अलग तरह का था, लेकिन स्वतंत्रता के बाद वह परिस्थिति बदल जाती है। आंचलिक राजनीति के आविर्भाव के बाद असम में

बाहर से आए हुए लोगों की अलग से पहचान होने लगती है। इस दृष्टि से असम के हिंदी भाषी समुदायों को बाहरी समझा जाता है और उनके ऊपर तरह–तरह के अत्याचार एवं जोर जुल्म भी किया जाता है। जबरन चंदा वसूली, सामाजिक–सांस्कृतिक रूप से हाशिए पर रखना जैसी परिस्थिति का सामना मारवाड़ी समुदाय के लोगों को आज भी करना पड़ रहा है। यह बात सच है कि मारवाड़ी लोग दूसरे हिंदी भाषियों की तरह असम के स्थानीय लोगों के साथ घुलमिल नहीं पाए। पूर्णरूपेण व्यवसाय को समर्पित इस समुदाय के लोगों ने असम की आर्थिक स्थिति को सुधारने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उनकी व्यवसायिक हुनर की तारीफ सभी करते हैं, लेकिन व्यवसाय के साथ–साथ असम की सांस्कृतिक समृद्धि में भी उनका योगदान सराहनीय है। असमिया फिल्म जगत के शिखर पुरुष रूपकोंवर ज्योति प्रसाद अग्रवाल को कौन भूल सकते हैं? उनके लिखे हुए गीत आज भी सर्वश्रेष्ठ असमिया गीतों में शुमार है। इसी प्रकार असम के शिक्षा एवं साहित्यिक जगत में भी मारवाड़ियों का योगदान सराहनीय रहा है, लेकिन इन सब के बावजूद भी असम में मारवाड़ियों को केवल एक व्यापारी समुदाय के रूप में ही देखा जाता है। परिणाम स्वरूप मारवाड़ियों ने भी अपनी अलग पहचान बनाए रखने के लिए अपने समुदाय के बीच विभिन्न सांस्कृतिक एवं राजनीतिक मंच बना लिया है। अपने स्तर पर आज भी असम के मारवाड़ी संगठनों को विभिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्य करते हुए देखा जा सकता है। ऐसा माना जाता है कि मारवाड़ी समुदाय मुनाफा कमाने के लिए व्यवसाय करते हैं, लेकिन इसके लिए उनके सामाजिक योगदानों को नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए। सदियों से असम की मिट्टी उनकी कर्मभूमि रही है। केवल भाषा और व्यवसाय के आधार पर किसी को बाहरी कह देना कहां तक उचित है? मारवाड़ियों की कई पीढ़ियां असम में खप चुकी हैं। अब जो मारवाड़ी असम में हैं, वे किसी बाहरी राज्य से आकर वहां बसनेवालों में से नहीं हैं। उनकी पैदाइश असम में ही हुई थी और अब असम ही उनकी मातृभूमि और कर्मभूमि दोनों है।

असम में बिहारी लोगों के आने का एक लम्बा इतिहास रहा है। औपनिवेशिक प्रशासन ने हजारों बिहारियों और बंगालियों को यहाँ आकर बसने, यहाँ के चाय बागानों में काम करने और ख़ाली पड़ी जमीन पर खेती करने के लिए प्रोत्साहित किया। उस समय असम की जनसंख्या बहुत कम थी। ऐसे में असम के भूमिपतियों ने बंगाली जोतदारों और बिहारी मजदूरों का खुलकर स्वागत किया, लेकिन आजादी के थोड़े समय पहले से ही इस स्थिति में बदलाव आना शुरू हो गया था। धर्म के आधार पर देश का बंटवारा होने के बाद 'भाषा' असम में क्षेत्रीय राजनीति का आधार बनती है और असम में यह नारा बुलंद होता है कि जो असमिया भाषा जानते हैं, वही असम में रहने के अधिकारी हैं, बाकी सब बहिरागत (बाहर से आनेवाले) हैं। असम में सदियों पहले से रहनेवाले और मेहनत मजदूरी करके असम की आर्थिक स्थिति को मजबूत करनेवाले बिहारी समुदाय के लोग, केवल इसलिए बाहरी कहलाए, क्योंकि उनकी भाषा असमिया नहीं है। इसी राजनीतिक दुर्भावना का शिकार असम में रहनेवाले अनेक छोटे–छोटे समुदाय के लोगों को होना पड़ा, जिनके पूर्वज अतीत में कभी इसी प्रदेश में आकर बसे थे। हालांकि बिहारी समुदाय हों या अन्य किसी हिंदी भाषी समुदाय का हों, उनके किसी भी व्यक्ति को कभी उनके पर्व–त्यौहार, धार्मिक उत्सव, सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि मनाने में स्थानीय लोग कभी बाधा नहीं पहुँचातें। केवल शिक्षा–दीक्षा, राजनीति, सार्वजनिक–कामकाज और सरकारी नौकरी आदि में, स्थानीय लोगों की तुलना में, हिंदी भाषियों की

भागीदारी बहुत कम है। संख्या की दृष्टि से देखा जाए, तो वे असम के कोने–कोने में बसे हुए हैं। फिर भी उनका सामाजिक विकास इतना कम क्यों हुआ? यह एक चिंता का विषय है।

असम के हिंदी भाषियों में प्रमुख सिख, मारवाड़ी और बिहारी समुदायों का अध्ययन करके पता चलता है कि भाषा की दृष्टि से उनमें काफी बदलाव हुआ है। ऊपरी असम के बहुत से सिख लोग असमिया को ही अपनी मातृभाषा मानते हैं। उन्होंने पंजाबी या हिंदी सीखा है, तो केवल धार्मिक कारण से। उन्होंने अपने धार्मिक ग्रन्थ का अनुवाद असमिया भाषा में किया है। कुछ सिख हैं, जो पंजाबी या हिंदी में बातचीत करते हैं। मारवाड़ी लोग भी असमिया बोलते हैं। असमिया में लिखते–पढ़ते भी हैं, लेकिन मारवाड़ियों में अपनी मूल भाषा का अनादर कम दिखाई देता है। वे असमिया केवल सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से ही सिखते हैं। बिहारी समुदाय के लोगों ने तो एक दूसरी ही तरह की भाषा का विकास कर लिया है। उनकी भाषा में संभवतः भोजपुरी और असमिया भाषा का मिश्रण है। असमिया बिहारियों की भाषा सुनने में बहुत ही अनुठी लगती है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि असम में हिंदी भाषियों की स्थिति अभी भी निर्णायक पर्याय तक नहीं पहुँची है। शायद आगे आनेवाले दिनों में बहुत से परिवर्तन और देखने को मिलेंगे।

☙★❧

कामायनी : मनुष्यत्व का आख्यान

डॉ. बृजेश कुमार पाण्डेय *

कामायनी छायावाद के प्रमुख स्तम्भ जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित एक कालजयी रचना है। वास्तव में यह कृति आधुनिक सांस्कृतिक चेतना को अभिव्यक्त करती है तथा स्थूल घटनाओं के भीतर से सूक्ष्म भाव सत्यों का उद्घाटन करती है। प्रसाद जी की अधिकांश रचनायें अतीत की पृष्ठभूमि पर लिखी गई है, लेकिन उनका प्रतिपाद्य आधुनिकयुग को दिशा और दृष्टि देने में है। उन्होनें वर्तमान को केवल उपदेश और प्रेरणा देने के लिए अतीत को नहीं चुना बल्कि आत्म समीक्षा के लिए उस समय की तथा आधुनिक समस्याओं से विमर्श के लिए चुना है और उन समस्याओं का समाधान भी दिया है। आज मनुष्य परेशान क्यों है ? इसका उत्तर प्रसाद जी कामायनी में देते है कि जब तक मनुष्य की इच्छा, ज्ञान और क्रिया में सांजस्य नहीं होगा तब तक वह परेशान ही रहेगा –

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।।[1]

प्रसाद जी ने बहुत सी आख्यानक कविताएं रची हैं, जिनमें कथा का धरातल तो प्राचीन है परन्तु उनकी दृष्टि आधुनिक है। कायामनी भी प्राचीन कथानक को लेकर लिखा गया काव्य है परन्तु उसमें अपने युग की महत्वपूर्ण समस्याओं जैसे– व्यक्तिवाद, नारी– स्वतंत्रता आदि को उठाया गया है। कामायनी का मनु घोर व्यक्त्विादी है, वह हर जगह केवल अपना ही विकास देखना चाहता है, श्रद्धा के समर्पण से वह अनजान है। काम के माध्यम से स्वयं प्रसाद जी आत्मसुखवाद की आलोचना करते है :– मनु ! उसने तो कर दिया दान ?

सौन्दर्य जलधि से भर लाए केवल तुम अपना गरल पात्र
हो वर्तमान से वंचित तुम अपने भविष्य में रहो रूद्ध।[2]

प्रेमशंकर जी के शब्दों में कहे तो "प्रसाद कामायनी को एक गाथा अथवा धार्मिक ग्रन्थ नहीं बनाना चाहते थे, मानवता का इतिहास प्रस्तुत करना ही उका प्रतिपाद्य था। यही कारण है कि ऐतिहासिक सामग्री के होते हुए भी उन्होनें नूतन उद्भावनाओं के द्वारा नये दृश्य उपस्थित किये है।"[3] कामायनी का नायक उदात्त नहीं है। इसमें कुल छः पात्र है– मनु, श्रद्धा, डड़ा, मानव, किलात और आकुलि। प्रसाद जी ने कामायनी की भूमिका में मनु को मनन का प्रतीक घोषित किया है। प्रसाद जी की जीवन दृष्टि की प्रतिनिधि पात्र श्रद्धा है जबकि उन्होनें इड़ा को बुद्धिवाद का प्रतीक माना है। कही न कही यही पात्रों का स्वरूप कामायनी के दार्शनिक आधार को भी स्पष्ट करता है। कामायनी का मुख्य लक्ष्य ही है – आनन्दवाद की प्रतिष्ठा और यह कब प्राप्त होगा जब मन एकदम श्रद्धावान होकर लक्ष्य की ओर अग्रसर होगा तभी आनन्द की प्राप्ति होगी। प्रसाद जी के दर्शन पर कटाक्ष

*** सहायक प्राध्यापक– हिन्दी, शासकीय रामानुज प्रताप सिंहदेव स्नात0 महाविद्यालय, बैकुण्ठपुर, जिला– कोरिया (छ.ग.)**

करते हुए मुक्तिबोध ने कहा है कि– "प्रसाद जी का दर्शन एक ऐसी भाव व्यवस्था का नाम है जो भाव व्यवस्था व्यक्तियों को अपनी समस्याओं से मनोवैज्ञानिक छुटकारा तो दिला सकती है, किन्तु उन समस्याओं का अस्तित्व समाप्त नहीं कर सकती है।"[4] स्वाभाविक सी बात है जब तक सृष्टि रहेगी समस्यायें भी किसी न किसी रूप में अवश्य ही रहेगी।

कामायनी में रस पर हम यदि बात करें तो जीवन की तमाम समस्याओं को लेकर इसे रचा गया फलतः इसका आरम्भ बाल्मीकि की भांति करूण रस से हुआ है। इसके पहले सर्ग का नाम है चिंता। इसके बाद मनु के जीवन में श्रद्धा के प्रवेश के साथ ही श्रृंगार रस का आरम्भ हो जाता है। मनु के भाग जाने के साथ ही वियोग का आरम्भ हो जाता है। इसके अतिरिक्त बालक मानव के जीवन से वात्सल्य रस का भी निदर्शन हमें कामायनी में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त रहस्य सर्ग में अद्भुत रस, पशु की हत्या के संदर्भ में वीभत्स रस, निर्वेद सर्ग में शांत रस तथा अंतिम आनंद सर्ग में शांत रस की योजना प्रसाद जी ने की है। तो इस प्रकार कामायनी का अंगीरस क्या है इसे बता पाना बहुत ही कठिन कार्य है। डॉ0 नगेन्द्र ने अंतिम सर्ग के आधार पर शांत रस को ही प्रधान रस माना है तथा इसे उन्होनें आत्मरस, आनंद रस, महारस[5] आदि नामों से संबोधित किया है। इसके अतिरिक्त प्रसाद जी ने एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य किया है– प्रसाद ने प्राणवान आलम्बन, सजीव चित्रण, उचित विस्तार के द्वारा रसों का समाजीकरण भी किया वे साधारणीकरण की स्थिति तक जाकर, सामूहिक रसोद्वेग में सहायक होते है।[6]

अगर हम भाषा की बात करें तो कामायनी की भाषा उसमें व्यक्त भावों के बिल्कुल अनुकूल है। जिस प्रसंग की जैसी स्थिति परिस्थिति है उसी के अनुसार कवि ने शब्दों को गढ़ा है। छायावादी कविता की विशेषता में शाब्दिक चित्रमयता का विशेष स्थान है जिसके निर्माण में प्रसाद जी बहुत ही सफल रहे है। प्रेमशंकर जी के शब्दों में कहे तो – सफल कवि सुन्दर शब्दशिल्पी भी होता है और शब्दों के द्वारा चित्र बनाता है, किसी भाव अथवा वस्तु को मूर्तिमान करता है। भावों की साकारता भाषा की चित्रमयता पर निर्भर है। कामायनी में चित्रों की प्रधानता है, समस्त मनोवृत्तियों को साकार रूप में चित्रित किया गया है। सम्पूर्ण चित्र भाव को केन्द्रित रूप में प्रस्तुत करता है।[7]

प्रसाद जी प्रारम्भ में अपनी कविताएं ब्रजभाषा में किया करते थे। उनके ऐसे संग्रह का नाम चित्राधार है। लेकिन बाद में वे खड़ी बोली में कविता करने लगे। कामायनी प्रतीक शैली में लिखी गई है इसलिए इसकी कथा सांकेतिक और व्यंजन है। इसमें सभी पात्र और घटनाएं प्रतीकात्मक है और अधिकतर प्रतीक परम्परागत ही है। प्रसाद जी के शब्द समूह पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पद रचना का प्रभाव स्पष्ट है।[8]

कामायनी में आये मधु, मधुर, मदिर, माधव, अंतरिक्ष, इन्द्रजाल आदि शब्द इसके उदाहरण स्वरूप लिए जा सकते है। वास्तव में कल्पना के सहारे कामायनी में बहुत सारे ऐन्द्राजाविक दृश्य उन्होनें प्रस्तुत किये है।

कामायनी के लेखन के शुरूवात की जब बात आती है तो इस संबंध में कोई ठोस प्रमाण हाथ नहीं लगता। लेकिन सन् 1928 में सुधा पत्रिका के अक्टूबर अंक में कामायनी का प्रथम सर्ग चिंता सर्ग का अंश छपा था और कामायनी प्रकाशित हुई 1935 में।[9] इस प्रकार यदि हम सन् 1928 से कामायनी के लेखन की शुरूआत मानते है तो इसमें कुल सात वर्ष प्रसाद जी को लगे। उनकी

कामायनी के निर्माण में या कहे कि कामायनी के लेखन के पीछे शायद यह मुख्य बात रही है कि जहां सम्पूर्ण देव – सृष्ट अबाध भोग– विलास में डूबी हुई थी, प्रलय के उपरान्त मनुष्य की सृष्टि होने पर उसने नये मानवीय मूल्य आविष्कृत किये जिनमें प्रेम और सर्जनात्मक शक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय रहे है। कुल मिलाकर जिन कारणों के चलते– देव – सृष्टि का नाश हुआ था उन गलतियों को न दुहराकर मानवीय सृष्टि ने सृजनात्मक तथा मनुष्य की संस्कृति के विकास को अपने लक्ष्य के केन्द्र में रखा। डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ठीक ही लिखा है कि– "प्रसाद ने बड़ी निष्ठा के साथ प्रदर्शित किया है कि मानवीय संस्कृति देव– संस्कृति की तुलना में किसी तरह हीन नहीं है, वरन् वह देव संस्कृति जो भौतिकवादी है, सुख केवल सुख की संस्कृति है उससे आगे का विकसित और सूक्ष्य रूप है। इस माने में कवि ने मध्यकालीन हीन भावना से ग्रस्त देवता– प्रधान समाज को नये और आधुनिक मानवीय आत्मविश्वास से सम्पन्न किया है।"[10] कामायनी के मनु बुद्धिवाद के द्वारा जीवन की पहेली को सुलझाने का यत्न करते है। साथ ही अनेक प्रकार के भौतिक उपकरण तथा विलास की सामग्री जुटाकर वे हृदय पर बौद्धिक शासन स्थापित करते है। लेकिन अनेक प्रकार के सुख साधनों के द्वारा भी मनु तृप्त नहीं होते। यही वर्तमान मनुष्य की भी नियमित है मानव को पूर्ण बनाने के लिए बुद्धि और श्रद्धा का योग परमावश्यक है। इनमें से किसी एक के अभाव में मानवत्व की प्रतिष्ठा अधूरी ही रह जायेगी।

प्रसाद जी ने कामायनी के सर्गो का नामकरण वृत्तियों के आधार पर किया है जैसे– चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम आदि। कहीं न कहीं ये सारी वृत्तियां एक मनुष्य के भीतर होती ही हैं। स्वयं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी मनुष्य को ही साहित्य का लक्ष्य माना है। किसी भी साहित्य की रचना का मूल होता है मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा और यही काम प्रसाद जी ने अपनी कालजयी कृति कामायनी के माध्यम से सम्पन्न किया है। इसीलिए कामायनी में केवल धार्मिक, दार्शनिक या आध्यात्मिक पक्ष की ही प्रधानता या उसे स्थापित करने का प्रयास नहीं किया गया है, बल्कि वह मनुष्य जीवन की अधिकांश समस्याओं का समाहार भी प्रस्तुत करती है जिसमें आनन्द और समरसता मुख्य है। जब तक मनुष्य जीवन में समरसता नहीं होती तब तक आनन्द की कल्पना करना व्यर्थ है। और आनन्द प्रत्येक प्राणी और खासकर मनुष्य का तो लक्ष्य ही होता है तथा किसी भी काव्य या दर्शन का भी यही प्रयोजन होता है। प्रसाद जी ने आनन्द के प्रतिपादन में श्रद्धा को सबसे ज्यादा महत्व दिया। कामायनी का आनन्द ऋषि, साधक अथवा बैरागी की सम्पत्ति नहीं है। कर्म से मानव उसकी प्राप्ति कर सकता है, वन में जाने की आवश्यकता नहीं। कवि निवृत्ति मार्ग का पक्षपाती नहीं है। जीवन के प्रति अड़िग, आस्था, सार्थक, कर्म, सत्कार, सत्य का ग्रहण स्वयं आनन्द प्राप्ति के लिए पर्याप्त है। प्रेम स्वयं आनंद प्राप्ति के लिए पर्याप्त है। प्रेम स्वयं आनन्द है। प्रेम का व्यापक और उदात्त रूप ही श्रद्धा है।[11] इस प्रकार प्रसाद जी ने कामायनी में मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ उसके चरम लक्ष्य आनंद को प्रतिष्ठित करने का पूर्ण प्रयास किया है और इसके लिए वे उसकी कमजोरियों को भी उद्घाटित करने से नहीं हिचके है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में कहे तो– कामायनी में उन्होनें नरजीवन के विकास में भिन्न– भिन्न भावात्मिका वृत्तियों का योग और संघर्ष बड़ी प्रगल्भ और रमणीय कल्पना द्वारा चित्रित करके मानवता का रागात्मक इतिहास प्रस्तुत किया है।"[12] सम्पूर्ण कामायनी में मानवता से संबंधित समस्त विषयों को यथा– सामाजिकता, मनोविज्ञान, उसके अनुभूति तथा अभिव्यक्ति पक्ष, व्यक्तित्व, मानसिक द्वन्द, कर्म, संतुलन आदि का विशद विवेचन

प्रसाद जी ने प्रस्तुत किया है। साधारण से लेकर बड़ी से बड़ी मानवीय समस्या को उद्घाटित करे उसका निदान भी प्रसाद जी ने कामायनी के माध्यम से बड़ी ही जीवन्तता तथा रोचकता के साथ प्रस्तुत किया है और कही न कही यही बात इस कृति के कालजयी होने का सबसे बड़ा प्रमाण भी है।

सन्दर्भ–सूची :–

1. कामायनी, जयशंकर प्रसाद।
2. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, इड़ा सर्ग।
3. प्रेम शंकर – कामायनी का रचना संसार ISBN : 978 - 93 - 5229 - 255 - 4, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2015, पृष्ठ– 25।
4. मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड– 4) पृष्ठ– 360।
5. कामायनी के अध्ययन की समस्याएं – पृष्ठ – 15
6. प्रेमशंकर – कामायनी का रचना संसार – पृष्ठ– 137।
7. प्रेमशंकर – कामायनी का रचना संसार, पृष्ठ– 139।
8. राम चरित मानस और कामायनी, मटुक नाम चौधरी, पृष्ठ–178, वाणी प्रकाशन– प्रथम संस्करण–2008।
9. बच्चन सिंह, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ– 147।
10. डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी– हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृष्ठ – 118।
11. प्रेमशंकर – कामायनी का रचना संसार, पृष्ठ– 93।
12. रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ– 462।

आत्मकथा के निकष पर अपनी खबर

डॉ. ज्ञानेंद्र कुमार *

आसमां ने जो किया जौरे कैसे कहूं,
दिल पे टूटा किस तरह सैले बला कैसे कहूं
दोस्त वह जिसने किया रूसवा मुझे है मुद्दई
दहर हूं पखर का क्या है मुद्या कैसे कहूं
गैर को लुत्फो इनामत और मुझे ख्वारी मिली
क्या यही है हासिले मेहरो वफा कैसे कहूं
चारागर अब मौत की शायद दवाये रष्क को
डूबता जाता है दिल का हौंसला कैसे कहूं

— दीवाने बाबर

हिंदी साहित्य में आत्मकथा लेखन की न तो समृद्ध परंपरा है और न मजबूत और इसका जिम्मेदार प्रस्तुत पंक्तियों में वर्णित 'कैसे कहूं' जीवन–शैली को किस हद तक ठहराया जा सकता है। आत्मकथा की अंतर्वस्तु की पहली और आखिर शर्त 'पूरी सच' है। सच का सामना करने के लिए जिस नैतिक बल की आवश्यकता होती है इसका अभाव हिन्दी साहित्य में देखने को मिलता है (अपवाद के रूप में गांधी और उग्र को छोड़कर)। साहित्य में आत्मकथा एक ऐसी विद्या है जिसमें हर हाल में तटस्थ और निरपेक्ष रहने की बहुत बड़ी चुनौती होती है। आत्मकथा के लिए आवश्यक है कि लेखक एक ऐसी दृष्टि का विकास करे जिसमें वह आत्मप्रशंसा और आत्मवेदना के भाव से बच जाए और सच को उधाड़कर रख देने का नैतिक साहस दिखाये। आत्मकथा लेखन में निवैर्यक्तिकता का गुण उपेक्षित है। वही आत्मकथा श्रेष्ठ होगी जिसमें रचनाकार अपने जीवानानुभवों के सभी स्याह–सफेद पक्षों को बिना किसी दुराव छिपाव के उजागर करे क्योंकि स्वयं अपना मूल्यांकन करना बहुत ही कठिन काम है। आत्मकथा की बुनियादी चेष्टाएं हैं– आत्ममंथन, आत्मालोचन और आत्मनिवेषण। उसके जरिये हम अपने मानवीय अस्तित्व के जटिल प्रश्नों को सुलझाने और उसके केन्द्रीय सच को पाने का प्रयत्न करते हैं। यह लेखक की जिंदगी के ब्यौरो तक ही सीमित नहीं रहती बल्कि उनसे आगे जाकर जीवन सत्य का अनुसंधान करती है। जीवन से सीधे सम्बद्ध होने के कारण आत्मकथा किसी एक विन्यास के बंधन स्वीकार नहीं करती। किसी भी शिल्प में वह हो सकती है और होती है लेखक को इतनी छूट कोई विधा नहीं देती। कभी वह संस्मरण की तरह भी आ सकता है और उपन्यास की तरह भी। मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुंडल बसै में उपन्यास और आत्मकथा दोनों का घालमेल होता रहता है। आत्मकथाओं में बड़ी क्षमता है पर उसके साथ संकट यह है कि वह हमेशा चौबीस कैरेट का होना मांगता है इससे कम वह स्वीकार्य नहीं। आत्मकथा में हम अपने सबकुछ को सार्वजनिक कर देने के साहस और फिर इस सार्वजनिकता में से अपने को दुबारा पा लेने के अचरज के बीच लगातार आवाजाही करते हैं। इस तरह आत्मकथा एक वाह्यान्तर जनतंत्र की बुनियाद पर खड़ी होती है। महात्मा गांधी ने जब अपनी 'आत्मकथा' शब्दबद्ध की तो

*** सहायक प्राध्यापक (हिंदी), दयाल सिंह कॉलेज (प्रातः), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110003।**

उसका आधार उनका यह विश्वास रहा कि जो एक के लिए शाक्य है वह सबके लिए भी शाक्य है। जाहिर है कि वह अपनी आत्मकथा लिखकर एक व्यापक जन समाज को सत्य की अपनी साधना का हिस्सेदार बनाना चाहते थे।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की आत्मकथा 'अपनी खबर' को ऊपर लिखित आत्मकथात्मक तत्वों को निकष पर कसने के पूर्व तद्युगीन परिस्थितियों के दबाव को जान लेना प्रासंगिक होगा। उस समय देश में अंग्रेजी साम्राज्यवाद कायम तो थी ही साथ ही साथ समाज में तमाम तरह की रूढ़ियों और जड़ताओं ने भी विकास की गति रोक रखी थी। साहित्य के क्षत्र में भी लोग समाज की कुत्सित और पाखंडपूर्ण सच्चाईयों से मुंह मोड़कर केवल सुंदर और गरिमामय की रचना में लगे थे। ऐसी परिस्थिति में उग्र ने समाज में व्याप्त अमानवीय आचरण के विभिन्न रूपों के विरूद्ध वैचारिक और चिंतनपरक लेख लिखने के बजाए अपने साहित्य में उनका खुला चित्रण किया। हिन्दी के जिम्मेदार साहित्यकारों और पत्रकारों ने 'उग्र' की कुख्याति भी साहित्य में एक दिन ख्याति बनकर चमकेगी'' में 'उग्र' का मूल्यांकन ही नहीं है, बल्कि एक लेखक को कख्यात बनाने वाली संस्कृति पर भी टिप्पणी है। इन तमाम दबावों को झेलने के बावजूद 'उग्र' मनुष्यता विरोधी समाज और मनुष्य के निकृष्ट आचरण की धज्जियां उड़ाते हैं। 'अपनी खबर' के केन्द्र में उग्र उतना नहीं है जितना उनका परिवार उनका वृहत्तर समाज, उनका साहित्य और उनके सरोकार।

'अपनी खबर' के सत्रह उप शीर्षको के अंतर्गत उग्र ने जिस बेबाकी से निजी जीवनानुभवों, उद्धवेगों और घटनाओं का चित्रण किया है, उससे हमारे सामने मानव–स्वभाव की अनेकानेक सच्चाइयां उजागर हो उठती है। 'उग्र' ऐसे समय के लेखक हैं जब यथार्थवाद जन्म ले रहा था। प्रेमचंद अपनी रचनाओं के माध्यम से स्थापित हो चुके थे, निराला संघर्षरत थे, प्रेमचंद आदर्शोन्मुख यथार्थ की बात कर रहे थे। दरअसल प्रेमचंद कहना चाहते थे कि समाज निर्मल है, लेकिन कुछ विसंगतियां काई के रूप में आ गई हैं और वे उसी को हटाने के क्रम में आदर्षवाद की तरफ कदम बढ़ाते हैं। किंतु आत्मकथा की सबसे बड़ी विषेषता साफगोई ही होती है। 'उग्र' एक तरफ उन तमाम बुराईयों की बात करते हैं जो उनकी व्यक्तित्व में मौजूद थीं और दूसरी तरफ वे आ कहाँ से रही हैं? इस ओर भी इशारा करते हैं। 'अपनी खबर' उपशीर्षक के अन्तर्गत अपने परिवार की माली हालत की चर्चा के साथ–साथ ब्राह्मण समाज पर करारा प्रहार करते हैं। 'उग्र' मूलतः विद्रोही रचनाकार हैं और ऐसा रचनाकार ही स्वयं के बारे में घोषित कर सकता है कि, ''मैं निस्संकोचा शूद्र हूं और ब्राह्मणों के घर में पैदा होने के सबब–साधारण नहीं– असाधारण शूद्र हूं।''[1] यह ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था में एक शूद्र का नहीं, एक अदद ब्राह्मण का विद्रोह है जो अपने समाज की रग–रग को पहचानता है। जजमानी वृत्ति को 'उग्र' गरीब ब्राह्मणों द्वारा अर्जित की जाने वाली 'भीख' की संज्ञा देते हैं। ब्राह्मण यदि चरित्र से हीन हो चुका हो और फिर भी सम्मान का अधिकारी बना घूमता हो, तो इस प्रपंच की 'उग्र' ने बहुत कठोर शब्दों में भर्त्सना की। असल में ब्राह्मणों के कदाचार और अमानवीयता से प्रताड़ित होकर उग्र, चण्डीदास के बताए सर्वोच्च सत्य मानुष सत्य को पहचानते हैं, लेकिन खास बात यह है कि 'उग्र' अपने इस साधारण जन की जीवन स्थितियों में बदलाव और बेहतरी लाने के लिए अपने वैचारिक और व्यवहारिक–जिहाद की चेतना के बावजूद उसकी डींगे नहीं हांकते। 'धरती और धान' उपशीर्षक के अन्तर्गत उग्र जहां एक ओर अपने पिता के संबंध में अन–बैलेन्सड' जैसे शब्द का प्रयोग करते हैं तो वहीं दूसरी ओर मां के श्रम के सौंदर्य की भी चर्चा करते हैं। 'उग्र' को

अपनी माँ से सज्जनता, स्वाभिमान और क्रोध के संस्कार तो मिले ही, श्रम के सैन्दर्य और लोकगीत तथा लोकसंगीत के महत्वपूर्ण संस्कार भी प्राप्त हुए।

'उग्र' ने अपनी जन्मभूमी चुनार से अपने प्यार की पराकाष्ठा जताने के लिए राम के अयोध्या प्रेम का उपर्युक्त उदाहरण सामने रखा है। 'चुनार' शीर्षक अध्याय में अयोध्या के विगत वैभव और वर्त्तमान की हीनता का चित्रण इसलिए किया गया है कि उसके बरअक्स चुनार की प्राकृतिक सुषमा को उभारा जा सके। राम को अयोध्या बैकुंठ के मुकाबले प्रिय लगी और उग्र को अयोध्या के मुकाबले चुनार प्रिय लगा ''अयोध्या मे सम्राट, चक्रर्ती, अवतारी, लीलाधारी लाख हुए हों, लेकिन वह पुरी प्रकृति की उस प्रफुल्ल कृपा, वरदान से बिलकुल विरहित है जो चुनार को अनायास ही प्राप्त है।''[2] फिर उन्होंने कहा ''असल में अयोध्या आदमी के बनाये बनी हुई थी, भले वे आदमी राम–जैसे शक्तिशाली क्यों न रहे हों। वैसे आदमी नहीं रहे तो अयोध्या रांड हो गयी।''[3] अयोध्या से चुनार इसी स्तर पर विशिष्ट है कि वह अपने सौंदर्य के लिए मनुष्य के अधीन नहीं है। मानवकृत संसारिक विधान तो नश्वरता को अभिषप्त हैं लेकिन प्रकृति के औदात्य और आकर्षण की तो बात ही निराली है।

'अपनी खबर' के माध्यम से 'उग्र' ने अपनी जिंदगी में आए कुछ प्रमुख व्यक्तित्वों के व्यक्तित्व की गहरी छानबीन भी की है। नाना भागवतदास के शौक, कंजूसी, कठोर अनुशासन कायम रखने, जीवट एवं साहस संयम, और सदाचार के बरअक्स राममनोहरदास की चर्चा की है और उनके बारे में लिखा, ''....लंगोट के वह कच्चे थे.... भद्दे ढंग से। वह किसी न किसी सुन्दर 'स्वरूप' पर रीझकर पहने सोने के गहनों से उसे लाद देते (दे नहीं डालते, केवल पहनने की सहूलीयत देते)। फिर उसी को लोहे के कैश बाक्स की कुंजी भी दे देते। सेक्रेटरी और शिष्य के बीच के काम उससे इतना लेते कि अक्सर थककर वह उन्हीं के गुदगुदे गदेले पर रात काट देता था। और सवेरे मण्डलीवालों में अनैतिक कानाफूसी चलती।''[4] 'उग्र' ने हिंदी समाज में रहते हुए उस दुनिया के विभत्स अंधेरे को उजागर किया जिसके वे मूक दर्शक नहीं रह पाए विवष हिस्सेदार थे। सच्चाई के निषेध में उन्होंने अपनी अप्रतिष्ठा मानी इसलिए उन्होंने लिखा ''फिर भी मैं बिगड़ा नहीं, ऐसा कहना 'बनना' होगा, जो मेरी बान नहीं, बाना भी नहीं।''[5] अपनी जीवन की अंतरंग सच्चाइयों को हमारे सामने बेबाकी से प्रस्तुत करते हैं और इनकी ईमानदारी देखते ही बनती है। गांधी मनुष्यता विरोधी समाज और मनुष्य के निकृष्ट आचरण की धज्जियां नहीं उड़ाते केवल विरोध करते हैं। 'उग्र' बकायदे दो ऐसे अत्यंत प्रभावशाली व्यक्तित्व प्रस्तुत किए हैं जिनसे वे आजीवन प्रभावित हुए। इनमें एक हैं– भानुप्रताप तिवारी और दूसरे महादेव मिश्र उर्फ बच्चा महाराज। ये दोनो परस्पर विरोधी चरित्र हैं लेकिन दोनों ने 'उग्र' की चेतना पर अमिट छाप छोड़ी। एक से 'उग्र' को जीवन की भयावह विडम्बना से लड़ने के आपार धीरज का संस्कार मिला तो दूसरे में सारी संभव बुराईयों में लिप्त रहने पर भी उल्लास और निश्चिंतता को जीते रहने का अद्वितीय आत्मबल दिखाई पड़ा। 'उग्र' ने कमलापति त्रिपाठी के बहाने आधुनिक राजनैतिक चरित्र के ओछेपन को उघाड़कर रख दिया है। 'उग्र' अपनी खानदान की महान परंपरा की बात भी करते हैं। इस क्रम में वे यह दिखाते हैं कि कैसे पुरोहित–वंश पतन के कगार पर पहुंच गया।

उग्र 'राममनोहरदास' उप शीषर्क के अंतर्गत प्रेम में अनन्यता और अमरता के तत्वों को अनिवार्य मानते हैं। यूं तो कहा जा सकता है कि उनका हृदय रूप के आकर्षण से बिंध गया था, जिसकी वेदना उनके मन से कभी न गई। मगर उस आकर्षण की अद्वितीयता और निरंतरता से

इंकार संभव नहीं, इसलिए प्रेम को यह समूची जिंदगी को छा लेने, उसे अपने नाम से अविष्ट रखने, यानी संजीदा अर्थों में मनुष्य को 'जिलाये' रखने वाली एक अक्षुण्ण शक्ति मानते हैं। उनके अनुसार मुहब्बत सांसारिक हानि–लाभ के तराजू पर तौली जाने योग्य जिंस कदापि नहीं है। एक ओर 'उग्र' जहां प्रेम की उदात्तता की बात करते हैं वहीं दूसरी ओर वेश्याओं से अपनी संपर्क को भी उजागर करते हैं। दरअसल 'उग्र' का विश्वास मनुष्य के वास्तविक चित्रण में है। मनुष्य को महिमामंडित करके महामानव बना दिए जाने के वे सख्त खिलाफ हैं। हनुमानजी के दिलचस्प रूपक के जरिए उन्होंने मनुष्य के सही और संपूर्ण चित्रण की जरूरत पर जोर दिया है, मेरे खतरनाक प्राय जीवन में ऐसे कोलाहलकारी संस्मरणों की भरमार है जिन्हें यदि रिकार्ड पर उतार दिया जाए तो संबंधित महानुभाव फरिश्ते नहीं, क्योंकि आदमी नजर आने लगें। हनुमान विशुद्ध प्राकृतिक रूप में बाल और पूंछ के साथ ऐसे नजर आयें कि अंध–भक्त लोग भड़ककर रह जायें।''[6]

'उग्र' की वैचारिक और सृजनात्मक चेतना का निर्माण जिन व्यक्तियों, विचारों, दर्शनों और साहित्य के गहरे अनुराग से संभव हुआ है, उन सबकी बुनियाद में 'उग्र' के विषय जीवनानुभव विद्रोही स्वभाव और उनकी बेबाकी है। 'उग्र' का पारिवारिक परिवेश और माली हालत किसी अछूत की घर से बेहतर नहीं थी। जिसके पिता की मृत्यु बचपन में हो चुकी हो, जुआरी–शराबी भाई ने घर का समान बेच डाला हो, जिसकी मां को दूसरे की घरों में कुटाई–पिसाई कर अपना परिवार चलाना पड़ रहा हो, उस 'उग्र' को रामलीला मंडलियों में सीता का पाठ करने से लेकर क्रांतिकारी और लेखक–पत्राकार बनने की प्रक्रिया में एक विद्रोही तो बनना ही था। एक ऐसा विद्रोही जो अपने समाज को पराधीन, अस्पृष्यता और व्यभिचार में लिप्त नहीं देखना चाहता। इसीलिए उनका विद्रोही मन असहमति और अस्वीकार को ही चुनता है। इस असहमति और अस्वीकार के खतरे भी हैं। जब 'उग्र' की आत्मकथा छपकर आई तो बनारस के पंडों ने उनको जान से मारने की धमकी दी थी। दरअसल जिसे 'उग्र' का अतिवाद माना गया था वह उनकी सत्यनिष्ठा थी। परिस्थितियों के द्वंद्व ने उन्हें कथाकार के रूप में गढ़ना शुरू किया। उन्होंने लिखा है ''अक्षरारंभ से पहले मेरे कान में 'वेश्या' या 'रंडी' शब्द पड़ चुका था।''[7] 'उग्र' का जन्म ही विवादभरी परिस्थितियों में हुआ। उग्र दुःख में हंसने की कला जानते हैं– यही उनकी सबसे बड़ी शक्ति है।

'उग्र' का 'अपनी खबर' आत्मकथा के निकष पर खरा ही नहीं उतरता बल्कि उससे आगे जाने की कोशिश करता हुआ प्रतीत होता है। आत्मकथा लेखक के सामने व्यक्तिगत चेहरे को सार्वजनिक चौराहे पर लाने की चुनौति होती है। इस चुनौति में 'उग्र' उतरते हैं। आज के दुविधाग्रस्त परिदृश्य में तो उनकी प्रासंगिकता और बढ़ जाती है।

संदर्भ–सूची :–

1. पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' अपनी खबर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2006, पृ. 19।
2. वही, पृ. 32।
3. वही, पृ. 32।
4. वही, पृ. 50।
5. वही, पृ. 50–51।
6. वही, पृ. 10।
7. वही, पृ. 23।

विश्वनाथ त्रिपाठी के संस्मरणों की सृर्जनात्मकता

प्रियंका कुमारी *

मनुष्य हो या फिर पशु–पक्षी सभी अपनी स्मृति की आधारशिला पर टिके होते हैं, ये स्मृतियाँ ही उनके वर्तमान को अतीत से जोड़ती है। स्मृति एक मानसिक प्रक्रिया है जो हर प्राणी में होती है। जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु, प्राणी अथवा स्थान को देखता है तो उस समय उसके मस्तिष्क में उसकी छवि बन जाती है। भूतकाल में बनी इन्हीं छवि को वर्तमान में याद करना स्मृति कहलाती है। वुडवर्थ के अनुसार "पूर्व में एक बार सीखी गयी क्रिया का पुनः स्मरण ही स्मृति है।[1]

स्मृति शब्द की व्युत्पत्ति 'स्मृ' धातु में 'क्तिन' प्रत्यय के योग से हुई है– जिसका तात्पर्य स्मरण एंव याद करना आदि से है। स्मृति का शाब्दिक अर्थ होता है 'याद', स्मरण। अंग्रेजी में इसके लिए 'मेमोरी' शब्द का प्रयोग किया जाता है, मेमोरी बीती हुई बातों का वह ज्ञान जो स्मरण शक्ति के द्वारा फिर से एकत्र या प्राप्त होता है। बुद्धि का वह प्रकार जो अतीत की घटनाओं को याद रखता है मेमोरी कहलाता है।[2] हिन्दी के अलग–अलग शब्दकोश में स्मृति के अनेक समांनातर शब्द भी दिए गए हैं। हिन्दी थिसारस में 'अरविंद कुमार' ने स्मृति शब्द के कुछ समांतर शब्दों का उल्लेख किया है, जैसे– "अतीत ज्ञान, पूर्व प्रज्ञा, याद, स्मरण आदि।''[3] पाश्चात्य विद्वान अल्डुअस हक्सले का विचार था कि "हर व्यक्ति की स्मृति उसका निजी साहित्य है।''[4] 'Encyclopedia of Literature' में मेमोरी को इस रुप में प्रस्तुत किया है–" Memory is our ability to encode, store, retain and subsequently recall information and past experience in the human brain."[5] डॉ. शिवप्रसाद सिंह के अनुसार जो "याद किया वह स्मृति है।"[6] अज्ञेय के अनुसार "स्मृति का एक अद्भुत शक्ति है कि वह याद भी करती है, लगातार याद का संशोधन, सम्पादन,रुपान्तरण भी करती चलती है। स्मृति का एक निजी स्तर है और सामूहिक स्तर भी। इसलिए स्मृति में एक जातीय और सांस्कृतिक परम्परा भी बोलती है,

प्रयोगवाद और नयी कविता के दौरान और उसके बाद भी इतिहासहीनता और स्मृतिहीनता की बात करना ही आधुनिकतावाद की विशेषता मानी जाती थी और हिन्दी आधुनिकतावाद का विकास भी इसी दिशा में हुआ, जिसे स्वीकार करते हुए अशोक वाजपेयी' ने लिखा है– "हिन्दी में दुर्भाग्य से आधुनिकता का कुछ ऐसा विचित्र विकास हो गया है कि परम्परा या अतीत की बात करना ही गैर आधुनिक बन गया है। हमारे यहाँ लिखी जा रही अधिकांश कविता स्मृतिहीन कविता है। यह आज की यातना या अकेलेपन को अपने सामाजिक सर्घंष से जोड़कर अधिक और स्थायी बनाने में असमर्थ है।"[7]

सर्जना से तात्पर्य साहित्य अथवा कला के निर्माण की उस प्रक्रिया से है, जिसके द्वारा लेखक अथवा कलाकार अपने अर्मूत भावों और विचारों को मूर्त बनाता है। सृजन सृष्टि की एक

* **शोधार्थी, हिन्दी विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली।**

सतत्–प्रक्रिया है। शिल्पकार अपने औजारों से निर्जीव मिट्टी को भी सजीव रुप प्रदान करता है तथा अपने अन्तःकरण की कल्पनाओं को साकार करता है। जिस प्रकार एक शिल्पकार अपने औजारों से अमूर्त कल्पनाओं का मूर्तिकरण करता है, ठीक उसी प्रकार साहित्यकार अपने स्मृति एवं चिन्तन के औजारों से कथाशिल्प का सृजन करता है। विश्वनाथ त्रिपाठी का साहित्य इसी स्मृति और चितंन की सर्जना है। इस सर्जना को समय–समय पर बहुत से विद्वानों ने अपने–अपने अनुसार समझाने का प्रयास किया है।

संस्मरण–लेखक का व्यक्तित्व जिस प्रकार का होगा, उनके उस व्यक्तित्व का सुगंध उनके संस्मरणों में भी स्वाभाविक होगी। यदि संस्मरणकार आलोचक हो तो उनकी भाषा में सहज, प्रभाव तथा रोचकता का समावेष स्वतः ही हो जायेगा। वह अपने जीवन की, घटनाओं का निसंकोच वर्णंन कर देगा। गंगा स्नान करने चलोगे में साहित्यकारों से संबंधित ऐसे ही स्मृति हैं। इनको पढ़ने के बाद ऐसा लगता हे कि लेखक ने अपनी यादों को बहुत ही सर्जनात्मक रुप में प्रस्तुत किया है। स्मृति से संबंधित एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि आखिर कौन सा स्मृति कवि को संस्मरण लिखने के लिए प्रेरित करता है, क्या स्मृति अपने आप में संस्मरण है, या महत्वपूर्ण वह दृष्टि है, जो स्मृति को संस्मरण में बदल देती है। इस संग्रह के संस्मरणों को पढ़ते हुए यह विचार पक्का होता है, कि कवि की दृष्टि ही महत्वपूर्ण है, जो स्मृति को संस्मरण में केवल शब्दबद्ध ही नहीं करता बल्कि स्मृति का चित्र भी बनाते है, ये इसलिए संभव हो पाया क्योंकि लेखक उन यादों से गहरे रुप से जुड़े हैं।

स्मृति का एक रचनात्मक कार्य है कि वह न केवल संग्रहण करती चलती है, अपितु संग्रहित में निरंतर चुनाव करने नया क्रम, संशोधन करने और सब का पुनर्मूल्यांकन करने में व्यस्त रहती है। इस पुनर्मूल्यांकन के प्रकाश में वह भविष्य के परिदृश्य भी बदलती रहती है। सभी कुछ स्मरण नहीं रखा जाता, स्मरण करना और रखना और घटित की स्मृतियों का संचय करते रहना स्मृति का कर्म है। स्मृति ऐसी घटना को भी संजो कर रखें जो केवल एक बार हुई जिसकी आवृत्ति न होगी और न हो सकती है। इतना ही नहीं स्मृति ऐसी इकाइयों को, या विशिष्ट और अद्वितीय घटनाओं के समूहों को या उनके एक संयोजित क्रम को तत्क्षण प्रस्तुत भी कर दे सकती है– जब कि ऐसा कोई संयोजन–सम्पादन हमने चेतन अवस्था में नहीं किया।

इस प्रकार स्मृति का न केवल एक नियामक धर्म है, बल्कि रचनात्मक धर्म भी है। यह रचना धर्मी स्मृति शायद वही चीज है, जिसे रचनात्मक कल्पना कहते है। स्मृति के इसी धर्म के कारण हम न केवल काल को बल्कि आत्म को भी पुनःसम्प्राप्त कर सकते है और करते है। वास्तव में स्मृति का यह रचनात्मक पक्ष ही है जो कि अनुभव को निरन्तर समायोजित संश्लिष्ट और नियमित करता चलता है। इनके बिना आत्मबोध हमारे अनुभव का एक तथ्य नहीं होता और आत्म का भी बोध न होता। इस प्रकार नैरन्तर्यं का अनुभव स्मृति के कारण होता है स्मृति रचना का स्रोत है। स्मृति नहीं है तो व्यक्तित्व नहीं हैं, बल्कि काल भी नहीं है, और रचना भी नहीं है। इस प्रकार स्मृति अपने होने के साथ जुड़ी हुई है।

हिन्दी साहित्य में अनेक प्रतिभाओं का प्रादुर्भाव हुआ है, किन्तु कुछ प्रतिभाएं इतनी गरिमामय हैं कि जिनका प्रभाव प्रत्येक युग के पाठक पर सदा–सदा के लिए अंकित रहेगा। यही नहीं वे आने

वाले लंबे समय तक प्रकाश स्तम्भ का कार्य करती रहेंगी। इन महान विभूतियों के सर्जनात्मक साहित्य को किसी पूर्व निश्चित मानदण्ड के आधार पर परखा नहीं जा सकता। वे स्वंय नये से नये मानदण्डों की स्थापना करते रहते हैं। इन्हीं साहित्यिक प्रतिभाओं में एक 16 फरवरी 1931 को उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के बिस्कोहर गाँव में जन्में एक सफल सर्जक, आलोचक, इतिहासकार, गद्यकार, अध्यापक विश्वनाथ त्रिपाठी हैं।

आमतौर पर माना जाता है कि एक सफल आलोचक का सफल सर्जनात्मक लेखक होना या सफल सर्जनात्मक लेखक का सफल आलोचक होना प्रायः संभव नहीं होता, लेकिन विश्वनाथ त्रिपाठी ने अपने साहित्य के माध्यम से इस मान्यता को गलत साबित किया है। यदि हम विश्वनाथ त्रिपाठी के संस्मरण साहित्य पर दृष्टि डालें तो हम पाते है कि, नंगातलाई का गाँव (2004), व्योमकेश दरवेश (2011), गंगा स्नान करने चलोगे (2012), गुरूजी की खेती–बारी (2015), नामक वेजोड़ संस्मरण है। यह रचनाएँ निसन्देह किन्हीं न किन्हीं स्मृतियों का एहसास कराती है। आपकी जीवनी हो या संस्मरण दोनों की सर्जना में स्मृति का विशेष महत्व है।

विश्वनाथ त्रिपाठी में 'घटनापरक तथ्य–जो अतीत में घटे है' को स्मृति में जीवित कर लेने में महारथ हासिल है। गंगा स्नान करने चलोगे तो लगभग 40–50 वर्ष से भी अधिक अतीत के तथ्यों से भरा है। यह अतीत की स्मृति अपनी सारी अच्छी–बुरी हरकतों, स्पंदनो और कार्यों के साथ वर्तमान से टकराता चलता है। नित्यानंद तिवारी के अनुसार "समय परस्पर विपरीत दिशाओं में रगड़ खाता हुआ चिनगारियाँ फेंकता है।"[8] अतः कहा जा सकता है कि वास्तव में यही समय को सृजन में बदलता है।

नंगातलाई का गाँव और गुरूजी की खेती–बारी में बाल मन की स्मृति व अनुभव व्यक्ति के अन्तःकरण पर लंबे समय तक अंकित हो जाते है। मनुष्य चाह कर भी इसे अपने से पृथक नहीं कर सकता, विश्वनाथ त्रिपाठी अपने संस्मरण 'नंगातलाई का गाँव' में अपने बाल्यकाल की स्मृतियों को व्यक्त करते है, जो कि अनुभूति एवं स्मृति दोनों ही स्तर पर अद्भुत रचना है। एक प्रसंग के माध्यम से बाल्यकाल की स्मृति को बताते है, कि जब तीन साल के बिसनाथ का दूसरा भाई पैदा हो गया है, माँ के दूध पर उसका अधिकार हो गया। बिसनाथ गाय का दूध पीने को तैयार नहीं, माँ संकट में है, उसे बताया गया कि स्तन में उबटन लगाकर बिसनाथ को दूध पिलाओ, बिसनाथ को कड़वा लगा तो दूध छोड़ दिया। भाई हमक–हमक कर माँ का दूध पीता, बिसनाथ देखते और मजबूरी में गाय का दूध पीते। अपनी स्मृति के माध्यम से लेखक ने करुणा, ममता, निर्ममता और मजबूरी का मार्मिक प्रसंग उजागर किया है।

मनुष्य अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों एवं स्मृतियों को अपने लेखन का हिस्सा बनाते है, चाहे वह अच्छी हो या बुरी किन्तु वह अपने प्रभाव को अवश्य परिलक्षित करते हैं। अच्छी रचनाओं का सृजन स्मृति के बिना नहीं होता है। जो रचनाएँ अभिव्यक्ति की दृष्टि के बिना रची जाती हैं, वे दो कौड़ी की क्षणभंगुर, अखबारी होती है अच्छी सृजनात्मकता के लिए आवश्यक है कि आप अपने सम–सामयिक घटनाओं, चरित्रों, अनुभवों को याद की नदी में फेंक दें। उसमें नहाकर जब वे रचना में लौटेंगे तो, साफ–सुथरे भीगे हुए, स्फूर्त, गतिशील, होंगे और इनमें नदी नहाने का पुण्य भरा होगा।

जैसे नदी का जल उसी नदी के दूर–दूर तक के जल से जुड़ा होता है, जैसे बनारस की गंगा के पानी को छूता है, वैसे ही स्मृति में स्नान करने पर अनुभव अनंत अनुभवों से जुड़ जाते है।

विश्वनाथ जी ऐसे स्मृतिकार हैं जो अपने ही किए हुए और भोगे हुए समाज को अत्यन्त निर्मल आत्मीयता के साथ नंगातलाई का गाँव में अभिव्यक्त करते है। वहाँ का सब कुछ उनके रक्त में बहता है, चाहे विभोर कर देने वाली नारी की इन्द्रधनुषि छवि और मार्मिक करुणा हो, चाहे पेड़–पोखरे, तालाब हो, चाहे लोकजीवन के वर्णक्रम सभी उनके अनुभवों से जुड़ जाते है और इस अनुभव को वह पुरी ईमानदारी से प्रस्तुत करते हैं। अष्टभुजा शुक्ल के अनुसार "यह लेखा जोखा प्रस्तुत करते हुए वे किसी दौरे पे आए या भेजे हुए प्रतीत होते हैं, जो अपने समाज की हर धड़कन को कान लगाकर और आँख खोलकर देखनेवाला नागरिक है।"[9] इन सभी घटनाओं, प्रसंगों का वर्णन लेखक ने अपने सजग स्मृति के अनुसार जिस प्रकार किया है वह विशिष्ट बन गया है।

स्मृति अनुभव को संवेदना तक पहुँचाने वाला सीढ़ी है। गंगा स्नान करने चलोगे में साहित्यकारों से संबंधित अपने स्मृति को लेखक अपने संवेदनात्मक स्पर्श से मानो पुनर्जीवित कर देते है। यह पुस्तक साहित्य के इतिहास को एक नया आयाम देने वाली रचना है। इसे मात्र संस्मरण नहीं कहा जा सकता, बल्कि यह साहित्य के इतिहास में स्मृति का एक विशिष्ट सर्जनात्मक उपयोग है। इसमें लेखक के अपने गुरू के साथ–साथ अन्य साहित्यकारों की स्मृतियों की रेखाएं हैं। जिसमें उनके व्यक्तित्व, कृतित्व के साथ लेखक के व्यक्तिव की रेखाएं भी गुंफित है। गंगा स्नान करने चलोगे में एक रचनाकार दूसरे रचनाकार को कैसे देखता है यह समझने का अभिजात्य–अप्रतिम माध्यम है। निसन्देह इस देखने को देखना एक अद्वितीय अनुभव है।

स्मृतियाँ कभी वर्तमान रही यथार्थ की परछाइयाँ होती है, जिनका हम एहसास तो पा सकते है, पर उन्हें छू नहीं सकते, ये वो फूल है जिनकी खुशबू हमारे एहसास में सदा जीवित रहती है। भले ही फूल बीज में तब्दील होकर स्वंय को मिट्टी को समर्पित कर दें। बिसनाथ को भी अपने गाँव की याद छाया देती हैं। बचपन में रचे हुए या देखे हुए गाँव की स्मृति बिसनाथ के लिए बहुत कुछ माँ–बाप की गोद या प्रेमिका की आँखों की सीतलता की तरह है।

हम सबका जीवन स्मृति के धागों से बुना है, स्मृति रुपी धागों से जिंदगी का वस्त्र बुना जाता है। जब ये स्मृति सामाजिक सरोकारों से जुड़ती हैं तो कलात्मक हो जाती हैं। स्मृति के धागे तो सबके पास होते हैं पर क्या सभी बुनकर अच्छे वस्त्र तैयार कर सकते हैं ? निसन्देह नहीं। एक अच्छे वत्र तैयार करने के लिए बुनकर के पास विशेष प्रतिभा का होना भी आवश्यक है। विश्वनाथ त्रिपाठी ऐसे कुशल प्रतिभाशाली लेखक है, जो अपने स्मृति का सर्जनात्मक प्रयोग करते हैं। लेखक के स्मृति में बिस्कोहर रचा–बसा है जिसका सबसे अच्छा प्रमाण नंगातलाई के गाँव में मिलता है। इसमें लेखक का अंदाज–ए–बयाँ प्रमुख है। लेखक स्मृति के माध्यम से जिस तरह एक गाँव का समूचा चरित्र खड़ा करते हैं वह भारतीय सृजनात्मक साहित्य में प्रायः दुर्लभ है। यह आजादी के पहले और बाद के एक बदलते हुए भारतीय गाँव की कथा है। इसमें गाँव के मूल चरित्र को पकड़ने की कोशिश की गयी है, स्मृतियों के माध्यम से गाँव की सामाजिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं साहित्यिक स्थितियाँ वहाँ की संस्कृति, परम्परा एवं समसामयिक संवेदनाओं की अभिव्यक्ति की है। इसे

लेखक ने स्वंय स्मृति आख्यान की संज्ञा दी है। इस कृति में वे बिसनाथ और नंगातलाई दो रुपों में उपस्थित हैं, इसे विलक्षण जुगलबंदी कह सकते हैं।

'गुरूजी की खेती–बारी' नामक संस्मरण की कथा की शुरुआत एक बार फिर लेखक बिस्कोहर की स्मृति से करते हैं, वास्तव में यह लेखक के अपने गाँव के प्रति प्रेम है, गाँव की मिट्टी की खूशबु है जो उन्हें अपनी ओर आकर्षित करता है। इसलिए सूत्र वे वहीं से पकड़ते हैं। इसमें लेखक अपने आदि गुरू रच्छा राम पंडित को स्मरण करते हैं। सत्यकाम के अनुसार "गुरूजी की खेती–बारी स्मृति के झरोखे से बना घर है।"[10] गुरूजी की खेती–बारी में स्मृति का ऐसा सर्जनात्मक प्रयोग किया है कि लगता है, हमारे सामने फिल्म चल रहा हो और एक के बाद एक दृश्य–परिवर्तित होते जाते हैं, उनकी कक्षा में एक ऐसा छात्र था जो कम्बल ओढ़ कर आता था और दूध की बोतल साथ में लाता था, क्लास में दूध पीता था। इस दृश्य की कल्पना से ही हँसी आती है, स्मृति का ऐसा कथात्मक प्रयोग है कि लगता है आँखों के सामने ही सब घटित हो रहा है। रचनाओं में स्मृति का ऐसा कथात्मक प्रयोग आज दुर्लभ है।

2012 में प्रकाशित पुस्तक गंगा स्नान करने चलोगे विश्वनाथ त्रिपाठी की संस्मरणात्मक कृति है, इसमें लेखक उन श्रद्धेय साहित्यकारों की स्मृति को बताते है जिनसे उनकी रचनाकार व्यक्तित्व की निर्मिति हुई है। विश्वनाथ त्रिपाठी के संस्मरणों का संग्रह गंगा स्नान करने चलोगे अपने युग के विशिष्ठ रचनाकारों, महान प्रेरणा नायकों का स्मरण मात्र स्मरण रस्म की पूर्ति नहीं है अपितु उसमें स्मृति का एकाग्र सर्जनात्मक उपयोग किया गया है इसमें विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा लिखित दस व्यक्तियों पर संस्मरण संकलित है, जिनका क्रम इस प्रकार है– गंगा स्नान करने चलोगे (हजारी प्रसाद द्विवेदी), हरिजन गाथा का कवि (नागार्जुन), एक हथौड़े वाला कवि (केदारनाथ अग्रवाल), और भी फलित होगी यह छवि (रामविलास शर्मा), उसी त्रिलोचन को देखा (त्रिलोचन), मय्यादास की माड़ी का कथाकार (भीष्म साहनी), भैरव जी (भैरवप्रसाद गुप्त), हक अदा न हुआ (नामवर सिंह), फिराक वार्ता (फिराक गोरखपुरी), तथागत के अनुयायी (डा.भरतसिंह उपाध्याय)।

इसमें फिराक गोरखपुरी को छोड़कर सभी व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य जगत से संबद्ध है। इस संस्मरण में संस्मरणीय साहित्यकारों का यथार्थ चित्रण है, लेखक का साहित्यकारों के साथ निकटतम सम्पर्क होने से ही इतना जीवन्त चित्र उभर पाया है। इस संस्मरण में एक–एक साहित्यकार का जीवन एक–एक पड़ाव है। यही कारण है कि पाठक के लिए इस संस्मरण को पढ़ना लेखक के साथ उन साहित्कारों की यात्रा पर निकल जाने जैसा है जिसे लेखक ने अपने भीतर जिन्दा रखा है।

विश्वनाथ त्रिपाठी इन संस्मरण में सहज, उन्मुक्त और मुखर है। इन संस्मरणों की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें स्मरणीय व्यक्तियों के व्यक्तित्व और साहित्यिक जगत में उसके अवदान को साथ जोड़कर देखा गया है। व्यक्ति और रचनाकार के बीच जो एक अदृश्य सूत्र होता है, उसे पहचानने और व्याख्यायित करने का प्रयास इन संस्मरणों में दिखाई देता है इस स्तर पर ये संस्मरण लेखक के बौद्धिक मिजाज से अछूते नहीं है और लेखक की स्मृति का भी सृजनात्मक रुप यहाँ दिखाई देता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि विश्वननाथ त्रिपाठी की रचना प्रक्रिया में स्मृति की सर्जनात्मकता की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

साथ ही साथ इनकी रचना–प्रक्रिया में बौद्धिकता की भी अहम भूमिका रही है। इस बौद्धिकता ने इन संस्मरणों में एक संतुलन पैदा किया है। एक गहरी विनम्रता आत्मीयता का भाव इन संस्मरणों में आद्योपांत मौजूद है। इन संस्मरणों का मूल लक्ष्य उस मूल्यवान स्मृति को सुरक्षित रखना है, जो हर वर्तमान को एक दिशा, पहचान और संस्कार दे सकें।

विश्वनाथ त्रिपाठी अपने स्मृति–आख्यान में एक किस्सागो एक अफसानानिगार, एक खोजी रिपोर्टर और मनमौजी संस्मरण लेखक की सीमाओं में बँधें प्रतीत नहीं होते इनका लेखन स्मृति–सर्जना से गुजरते हुए औपचारिक समीक्षा की सरहदों तक पहुँचा है। उन्हें पार करते हुए उन्होंने अनौपचारिक आलोचना (संस्मरण) का सीमांकन किया है। उसकी विशेषता यह है कि उसमें आप गालिब की दुनिया में प्रवेश कर सकते हैं तो कभी फिराक की लहरदार गलियों में भ्रमण कर सकते हैं। वहाँ आपको भैरवप्रसाद गुप्त भी मिल सकते है और अमरकांत भी, भीष्म साहनी, और हरिशंकर परसाई आदि। विक्रम सिंह के अनुसार– "केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर, नागार्जुन और त्रिलोचन की चौवाड़ी तो मिलेगा ही और उनके दो साहित्यिक मेंटौर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ. रामविलास शर्मा के द्वन्द्वात्मक रिश्तों का नजारा भी दिख जायेगा। वहाँ हक अदायगी की बानगी भी देखने को मिल सकती है तथा तथागत के अनुयायी के दर्शन भी हो सकते है सहपाठी और अन्य लेखक, कवि मित्रों की उपस्थिति इतनी तादाद में है कि लगता है, साहित्यकारों का रंगमंच सज गया हो।"[11] डॉ.पल्लव ने साक्षात्कार के दौरान गंगा स्नान करने चलोगे को विधाई अंतर्किया का अनुपम उदाहरण बताते हुए कहा कि यह पुस्तक केवल संस्मरणों का सुख नहीं देती अपितु साहित्य में अनेक व्यतीत पक्षों और समकालीन मुहावरों का बोध भी कराती है।

इन प्रेरणा पुरुषों से विश्वनाथ त्रिपाठी ने बहुत कुछ पाया है। इनके प्रभावों–प्रेरणाओं से विश्वनाथ त्रिपाठी का रचनाकार व्यक्तित्व निर्मित हुआ है। इनका प्रभाव त्रिपाठी जी की मनोभूमिका में इस प्रकार जज्ब हो गया है कि उनसे काटकर विश्वनाथ त्रिपाठी के सृजन पर विचार करना असंभव है। इस स्थिति के कारण उन संस्मरणों में स्मृति के साथ ऐसा संरचनात्मक अंतरसंबंध स्थापित किया गया है कि अनेक विधाओं का स्वाद पाठक पा सकता है। इनके पाठ के आंनद यही है कि पाठक अनेक तरह के जीवनानुभवों की लय से विस्मय–विमुग्ध रहता है। स्वयं विश्वनाथ त्रिपाठी कहते है कि "मेरी एक किताब है गंगा स्नान करने चलोगो। अब यह किताब संस्मरण में आलोचना है।"[12] विधा कोई हो बड़ी बात नहीं है, खास है लिखने का इरादा। त्रिपाठी जी अपने संस्मरण में कुछ थोपते नहीं है, न पाथते हैं बल्कि उन्होंने स्मृति और श्रुति को आँखिन देखी से एक रुप दिया है।

विश्वनाथ त्रिपाठी का गंगा स्नानो करने चलोगे पाठक को स्पष्ट कर देता है कि यह मात्र गुरू संस्मरण भर नहीं है– इसमे उनके जीवन को प्रभावित और प्रेरित करने वाले प्रेरणा स्त्रोत मौजूद है। इस दृष्टि से यह स्मृति एक प्रकार से साक्षात्कार है और ऐसा जीवनानुभव जो कृतिकार को सींचता है, पालता है, अंतर्दृष्टि देता है और ज्ञानात्मक संवेदना का अंकुठ विस्तार। इन संस्मरणों को न केवल संस्मरण कहा जा सकता है न आलोचना। क्योंकि इनमें व्यक्ति के कृतित्व और अस्तित्व का वह बिंब प्रस्तुत किया गया है, जिसे विश्वनाथ त्रिपाठी ने अपनी प्रतिभा–प्रज्ञा के आँखों से देखा है। इसलिए इनमें देखने वाली आँख प्रमुख है जो अद्भुत सत्य के आर–पार देखने की क्षमता रखती है।

गंगा स्नान करने चलोगे में स्मृति का विशिष्ठ सर्जनात्मक उपयोग है, इसमे जहाँ एक तरफ हमारे साहित्यिक संवेदन का निर्माण करने वाले संस्कार देने वाले और हमारी अस्मिता से पहचान कराने वाले श्रद्धेय रचननाकारों की स्मृति को सुरक्षित रखने में मदद मिलेगी। वहीं दूसरी तरफ हम देख सकते है कि लेखक, लेखक को कैसे देखता है। इन संस्मरणों में विश्वनाथ त्रिपाठी ने जिन रचनाकारों का चयन किया है, उनसे वे बहुत गहरे रुप में प्रभावित रहें हैं। स्वंय विश्वनाथ जी के व्यक्तित्व को पूर्णता और समग्रता देने में इनका भी योगदान रहा। इन संस्मरणों के माध्यम से त्रिपाठी जी की रचना दृष्टि तथा स्मृति की सर्जनात्मक रुप को समझा जा सकता है। स्मृति की ऐसी सर्जनात्मक प्रयोग हिंदी संस्मरण साहित्य में दूसरी नहीं लिखी गयी है। 81 वर्ष के विश्वनाथ त्रिपाठी की तीक्ष्ण अंतदृष्टि, वैचारिक प्रतिबद्धता, सहज मानवीय क्षमता वैज्ञानिक विश्वबोध संपूर्ण कृति में अंतर्व्याप्त है।

संदर्भ–सूची :–

1. स्मृति का अर्थ, परिभाषा,एवं प्रकार, https//www-scotbuzz-org>smirt,21/4/2017
2. www-hindi2dictionary-com memory& meaning in hindi, 2017.
3. कुमार अरविंद, वृहत समांतर कोश(संदर्भ खंड), नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली–110070, इंडिया, वर्ष–2013, पृष्ठ संख्या–223।
4. जासूद नामदेव, सृजन और स्मृति, मधुमती (जनवरी, 2017), पृष्ठ संख्या–17।
5. Merrian&webster's, Encyclopedia of Literature, page no&667.
6. गुप्त, प्रसाद, दुर्गा, हिन्दी में आधुनिकतावाद, अनंग प्रकाशन, दिल्ली, 110053, 1998 .पृष्ठ–35।
7. वात्स्यायन, हीरानन्द सच्चिदानन्द, सर्जना और संदर्भ, पृष्ठ संख्या–23।
8. द्वारिकाप्रसाद, चारुमित्र, अनभै साँचा, बस गई एक बस्ती है, जुलाई–दिसंबर 2016, पृष्ठ–65।
9. चारुमित्र, द्वारिकाप्रसाद, अनभै साँचा, पृष्ठ संख्या–179।
10. राय गोपाल, समीक्षा, बतरस लालच लाल की, अप्रैल–जून 2017।
11. सिंह, विक्रम, विश्वनाथ त्रिपाठी का साहित्य विवेक, अनभै साँचा, वर्ष– 2016।
12. त्रिपाठी, विश्वनाथ, रचनाओं के बीच की आवाजाही, समीक्षा (2017), पृष्ठ–7।

'अँधेरे बंद कमरे' उपन्यास में चित्रित मध्यवर्गीय-संघर्ष

पुष्पा कुमारी *

'अँधेरे बंद कमरे' मोहन राकेश द्वारा लिखित उनका पहला उपन्यास है। इसका प्रकाशन सन् 1961 ई. में हुआ है। इस उपन्यास के तह में जाने से पहले हम उपन्यासकार के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण बातों को जानेंगे। कोई भी रचनाकार अपने जीवनानुभवों और दृष्टि से अपनी रचना को साकार रूप देता है। अतः रचनाकार व उनके परिवेश को जानना आवश्यक है।

मोहन राकेश का जन्म 8 जनवरी 1925 को अमृतसर में हुआ। पहले उनका नाम मदन मोहन गुगलानी रखा गया, जो आगे चल कर मोहन राकेश के नाम से जाना गया। अपनी लेखनी के माध्यम से उन्होंने हिंदी साहित्य में कहानी, नाटक, उपन्यास, डायरी, यात्रा वृतांत, आनुवाद जैसी विधाओं को आगे बढ़ाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इसके साथ ही उन्होंने 'सारिका' (सन् 1962–63 ई.) का संपादन कार्य भी किया है। उन्होंने नई कहानी के प्रमुख कथाकारों में स्वयं को स्थापित किया। उनके नाटकों को भी अपार सफलता मिली है। उनके नाटक 'अषाढ़ का एक दिन ' के लिए उन्हें 'संगीत नाटक अकादमी' सम्मान से सम्मानित किया गया। उन्होंने अपने उपन्यासों ने समाज का एक बड़ा तबका जो कि मध्यवर्ग है, उसकी समस्याओं को दर्शाया है। उनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं–

कहानी संग्रह– क्वार्टर तथा अन्य कहानियाँ, पहचान तथा अन्य कहानियाँ, वारिस तथा अन्य कहानियाँ, नए बादल, मोहन राकेश की संपूर्ण कहानियाँ। नाटक– अषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे–अधूरे। उपन्यास– अंधेरे बंद कमरे, अंतराल, न आनेवाला कल निबंध संग्रह परिवेश

उनकी इन रचनाओं को अपार सफलता मिली। उनकी रचनाओं की सफलता हम इस बात से देख सकते हैं कि आज भी उनके नाटकों का मंचन होता है। मोहन राकेश ने अपनी रचनाओं में मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं को उसके पूरे सच्चाई के साथ दर्शाया है। उनकी इस सच्चाई के तार कहीं न कहीं उनके अपने जीवन अनुभव से जुड़े हुए हैं। उनके परिवार व आर्थिक स्थिति की बात करें तो हम देखेंगे कि उनका परिवार एक सामान्य मध्यवर्गीय परिवार था। अपने परिवार की आर्थिक स्थिति के बारे में स्वयं मोहन राकेश लिखते हैं– "घर में सीलन रहती है। नालियों में बदबू उठती है। सीढियाँ अँधेरी हैं।...घर में दम घुटता है। अक्सर गली में भाग जाता हूँ। पकड़–पकड़ कर लाया जाता हूँ।"[1]

इस वाक्य को पढ़कर हम उनके परिवार की आर्थिक स्थिति को समझ सकते हैं। यही वो अनुभव है जो आगे चल कर उनके रचना संसार में सामिल होता है। इन अनुभवों ने उनके साहित्य को समाज के यथार्थ के साथ जोड़ने में सहयोग किया। इससे उनके साहित्य में समाज की वास्तविक समस्याएँ अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट हुई है। अपनी अनुभूति और यार्थथ को लेकर

*** शोधार्थी, हिन्दी विभाग, गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गांधीनगर–गुजरात।**

मोहन राकेश स्वयं लिखते हैं– "मेरे लिए अनुभूति का सीधा संबंध मेरे यथार्थ से है, और यथार्थ है मेरा समय और परिवेश– व्यष्टि से परिवार, परिवार से राष्ट्र और राष्ट्र से मानव समाज तक का पूरा परिवेश, मैं इन में से किसी एक से कटकर शेष से जुड़े नहीं रह सकता– अपने आसपास के संदर्भ से आँख हटाकर दूर के संदर्भ में जी नहीं सकता।"[2] मोहन राकेश ने अपने उपन्यास 'अँधेरे बंद कमरे' में मध्यवर्गीय समाज की घुटन, उसके संघर्ष को उसके वास्तविक स्वरूप में दिखाया है। चूँकि मोहन राकेश नयी कहानी के एक स्तम्भ के रूप में सामने आये थे। जो प्रवृत्तियाँ नयी कहानी की रही हैं, वो मध्यवर्गीय समाज की भी रही हैं जैसे – अकेलापन, घुटन, दिखावा, संघर्ष आदि। नयी कहानी के दौर में सक्रिय रहते हुए वे स्वयं उस समय के साक्षी रहे हैं। नयी कहानी और नयी कविता आन्दोलन के सन्दर्भ में मोहन राकेश मानते हैं– "नई कहानी का आंदोलन नई कविता के मूल्यों के प्रति विद्रोह का स्वर लेकर आया और उसका मूल स्वर कुंठाओं की अभिव्यक्ति का नहीं, मनुष्य के यथार्थ को उसकी सामाजिक परिस्थितियों के परिपार्श्व में परखने आँकने का है।"[3] निश्चित तौर पर नई कहानी आन्दोलन का प्रभाव तत्कालीन कथाकारों पर पड़ा और मोहन राकेश भी इस से प्रभावित हुए। इन्होंने समाज के विविध स्तर व समाज का चित्रण किया है।

हमारा समाज कई स्तर पर बंटा हुआ है। साहित्य और समाज एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। यह वैसा ही है जैसे समाज शरीर है और साहित्य उसकी आत्मा अतः साहित्य समाज को मार्ग दिखाने का कार्य करता है। हमारे देश में समाज व्यवस्था को चलाने के लिए प्राचीन काल में कर्म के अनुसार समाज को विभाजित किया गया था। इसमें धर्म–शिक्षा, व्यवसाय, सुरक्षा व सेवा को केंद्र में रखकर चार वर्ण बनाए गए। आगे चलकर इस वर्गीकरण व्यवस्था का आधार विकृत होता गया और यह कर्म के आधार पर न होकर केवल जन्म के आधार पर हो गया, जिसे बाद में जाति के नाम से अभिहित किया गया।

इस व्यवस्था की विकृति इतनी बढ़ गई कि इसमें छूआछूत, ऊँच –नीच, भेदभाव जैसी बुराई शामिल हो गई। 'कार्ल मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'दास कैपिटल' में आर्थिक पक्ष के आधार पर समाज का विश्लेषण किया। वे मानते हैं कि समाज में प्रथम वर्ग वह है जो उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रखता है। दूसरे वर्ग में वे लोग हैं जिनके श्रम के आधार पर उत्पादन होता है जैसे किसी कृषि समाज में इन्हें हम जमींदार तथा दास, औद्योगिक उत्पादन में इन दोनों वर्गों को पूंजीपति तथा बुर्जुआ तथा श्रमिक अथवा प्रोलिटेरिएट की संज्ञा दी।'[4] कुछ बदलावों के साथ यह वर्ग आज भी अस्तित्व में हैं –

- निश्चित अनिश्चित दैनिक मजदूरी अथवा जीविका पर निर्भर रहने वाला वर्ग निम्न वर्ग है।
- निम्न वर्ग से ऊपर और उच्च वर्ग से नीचे इन दोनों वर्गों के बीच के वे लोग जो कार्यालय, संगठन आदि में वेतन लेकर कार्य करते हैं मध्यवर्ग कहलाते हैं।
- विभिन्न आर्थिक स्रोतों के प्रमुख अंगों पर मालिकाना हक रखने वाले लोग उच्च वर्ग के अंतर्गत आते हैं।

समाज में परिवर्तन निरंतर होता रहा है। पीढ़ी दर पीढ़ी बदलाव हुए हैं। किंतु विभिन्न वर्गों के संघर्ष, उनकी चुनौतियां सदैव किसी न किसी रूप में विद्यमान रही हैं। इसी संघर्ष और चुनौतियों को मोहन राकेश ने अपनी रचना में स्थान दिया है। उनकी रचनाओं में सामाजिक संदर्भ, समकालीन परिवेश, पारिवारिक बिखराव, आत्मअभिव्यक्ति, नगर बोध, देश के विभाजन आदि जैसी समस्याओं को

सहजता से देखा जा सकता है। उनकी रचनाओं के केंद्र में मध्यवर्गीय जीवन रहा है। जिसमें समाज की औपचारिकता, एकाकीपन अतृप्त इच्छाओं का प्रदर्शन, खोखलापन आदि को दिखाया गया है।

इस उपन्यास में मोहन राकेश ने मधुसूदन को कथावाचक के तौर पर प्रस्तुत किया है। जिसने अपनी आत्मकथा के रूप में मध्यवर्गीय समाज, उसके संघर्ष, उसके टूटे–बिखरे रिश्ते, रोजगार की समस्या, मध्यवर्गीय लोगों के द्वारा उच्च वर्गीय खेमे में शामिल होने के प्रयत्न, इस प्रयत्न में विफल होने पर घुटन, कुंठा जैसी समस्याओं का सामना, असफल दांपत्य जीवन और उस दांपत्य जीवन की घुटन, जकड़न, आगे बढ़ने की इच्छा, खुद को साबित करने की तीव्र इच्छा जैसी बातों को बहुत से पात्रों के द्वारा दिखाया है। इसमें मधुसूदन ने पत्रकार की समस्याओं को भी दिखाया है। इस पूरे उपन्यास की खास बात यह है कि इसमें निम्न वर्गीय परिवार, निम्न वर्गीय समाज, निम्न मध्यवर्गीय समाज, उच्च मध्य–वर्गीय समाज इन सभी का चित्रण यथार्थ रूप में किया है। ठकुराइन के रूप में और कस्साबपुर के रूप में निम्न वर्गीय समाज की समस्याएँ, उनके आपसी रिश्ते, प्रेम आदि को दर्शाया है। तो दूसरी ओर नीलिमा और हरबंस के रूप में मध्यवर्गीय समाज की सोच को दिखाया है। मध्यवर्गीय समाज में व्यक्ति स्वयं को स्थापित करने के लिए कितने पापड़ बेलता है।

इस क्रम में किस प्रकार की समस्याएँ उसके सामने आती हैं यह मधुसूदन के बम्बई रहने के प्रसंग में देख सकते हैं –"मैं उन दिनों बम्बई में था और 'काला घोड़ा' के पास एक थर्ड क्लास होटल में दूसरी मंजिल की एक डार्मिटरी में रहता था। मुझे बम्बई में रहते दो साल हो चुके थे और मैं वहाँ की जिंदगी से बुरी तरह ऊबा हुआ था। मुंबई जैसे शहर में आदमी के पास जीने की सुविधाएं न हों तो उसके पास ऊबकर वहाँ से चले आने के सिवा कोई चारा नहीं रहता। मैं दो साल में वहाँ प्रूफरीडरी से लेकर फुटपाथ पर सोने तक सभी तरह के अनुभव प्राप्त कर चुका था और अब वहाँ से लौटने की तैयारी में था।"[5]

सुविधाओं के आभाव में मधुसूदन को फुटपाथ पर भी सोना पड़ा था। उसी प्रकार स्कूटर के किराया के लायक पैसे नहीं होने पर मधुसूदन को सर्दी में दिल्ली की सड़कों पर रात में ठिठुरते हुए अपने घर जाना पड़ा था। "मुझे बस नहीं मिली। उन दिनों स्कूटर भी नहीं चले थे और मेरी जेब में कुल 9 आने बाकी थे। उतने पैसों में मैं पूरा तांगा लेकर नहीं जा सकता था... काफी दूर जाकर भी जब नई दिल्ली स्टेशन की बत्तियां दिखाई नहीं दीं, तो मुझे संदेह हुआ कि गलत रास्ते पर आ गया हूँ वहाँ पहुंचने पर मुझे अपनी गलती का पता चला तो मैं बेयर्ड रोड से घूम कर नई दिल्ली स्टेशन की तरफ आया। सर्दी के मारे शरीर ठिठुर रहा था और जूते से ढके हुए पैर भी सुन हो रहे थे।"[6] मध्यवर्ग की यह समस्या है कि हर एक चीज के लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है। यही संघर्ष उसे उस कमी का एहसास कराती है जो कि उसके पास नहीं होता। यही भावना आगे चलकर उसमें जलन और कुंठा को उत्पन्न करती है। ये भावना उसे अपनी स्थिति से आगे बढ़ कर उच्च वर्ग में शामिल होने की मृगतृष्णा देती है। यह जलन का भाव मधुसूदन के चरित्र में भी हमें दिखाई देती है।

मधुसूदन कॉफी हाउस में हरबंस और नीलिमा के साथ बहुत सहज और आत्मीयता का अनुभव करता था। किंतु जब वह नीलिमा और हरबंस के घर पर जाता है तब नीलिमा और हरबंस द्वारा दिए गए सभी सुविधाएं भी उसे वह आत्मीयता नहीं दे पाती थी जो कि उसे कॉफी हाउस में मिलता था। इस बेचौनी का कारण मधुसूदन और हरबंस की आर्थिक, भौतिक सुख–सुविधाओं के अंतर के कारण

है। जिसके तहत मधुसूदन को हरबंस के पास उपलब्ध संसाधनों से ईर्ष्या होती है। उदाहरण–"मैं उसके साथ उसके घर जाने से कतराता था, क्योंकि कॉफी हाउस में बैठे हुए जहाँ मैं उनके जीवन स्तर के अंतर को भूला रहता था, वहां उनके यहाँ जाकर वहां के वातावरण की सहजता के बावजूद वह अंतर मेरे सामने बहुत स्पष्ट हो उठता था। मुझे महसूस होता था कि वह फर्श और वे दीवारें मेरे जीवन का भाग नहीं है– मैं वहां जिस आत्मीयता का अनुभव करता हूँ, उसमें भी कहीं कुछ बेगानापन है। मैं वहां बैठकर उनके साथ उस बेतकल्लुफी के साथ बात नहीं कर पाता था जिस बेतकल्लुफी के साथ कॉफी हाउस में करता था।"[7] यहाँ इन वाक्यों को देखने से हम समझ सकते हैं कि मधुसूदन को हरबंस और नीलिमा से मित्रता का भाव व सम्मान तो मिलता है किंतु मधुसूदन को अपने मित्र की सुख सुविधाओं से ईर्ष्या है। यह इर्ष्या उसे उन सुख–सुविधाओं का अभाव अपने जीवन में होने से है। मध्य वर्गीय समाज में कुंठा, जलन, ईर्ष्या जैसे भाव सहजता से देखने को मिलता है। यह ईर्ष्या या जलन उस समाज के लोगों का आगे बढ़ने और अपनी स्थिति से उबर कर उच्च वर्ग में शामिल होने की कोशिश है। जब यह कोशिश उन्हें कम लगने लगती है और अपने आसपास के लोगों की कोशिश अधिक दिखाई देती है तब उनमें ईर्ष्या, हीनता का भाव दिखाई देता है। इस उपन्यास में भी इनके पात्रों में यह ईर्ष्या और कुंठा का भाव दिखाई देते है– जैसे नीलिमा अपने जीवन को आगे बढ़ाना चाहती है और नृत्य में आगे बढ़ना चाहती है किंतु उम्र अधिक होने से उसे एक डर भी है कि कहीं वह बिना कुछ पाए अपने जीवन में रुक न जाए। अपनी पहचान बनाने और खुद को साबित करने की इच्छा उसे बेचौन किये रहती है। अपने इस लक्ष्य से दूरी का अहसास उसमें झुंझलाहट पैदा करती है। इसी प्रकार की कुंठा और जलन का भाव मधुसूदन में और सुरजीत में भी दिखाई देते हैं। मध्य वर्गीय समाज में संस्कार अहम भूमिका निभाते हैं। यह समाज का वह हिस्सा है जो कि मध्य वर्ग के कंधों पर अधिक पलता है।

मध्यवर्गीय समाज अपने संस्कारों को इतनी सहजता से बदल नहीं सकते। यह समाज आगे बढ़ने की इच्छा तो रखता है किंतु अपने संस्कारों में, विचारों में जकड़ा हुआ रहता है। नीलिमा, हरबंस, मधुसूदन यह सभी पात्र अपने संस्कारों से जुड़े हुए रहते हैं। ये इन संस्कारों से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाते हैं। उदाहरण के तौर पर नीलिमा का यह कथन देखिये– "मगर मैं खाली भी तो नहीं रह सकती जो मैं चाहती हूँ वह हरबंस करने नहीं देता, इसलिए मैं पेंट करके ही मन बहलाने की कोशिश करती हूँ। हम लोग कितना ही नए रंग से रंग जाएँ, हमारे संस्कार तो आज तक वही है।"[8] यहाँ एक ओर नीलिमा की स्वयं को स्थापित करने, अपनी पहचान बनाने की प्रबल इच्छा दिखाई देती है तो दूसरी ओर पारंपरिक संस्कार हैं जो कि उसे पति की आज्ञा व पसंद का पालन करना सिखाते हैं। इन दोनों ही स्थितियों में वह उलझ कर रह जाती है।

हरबंस शिक्षित होने के कारण अपनी पत्नी नीलिमा को आगे बढ़ाना चाहता है किंतु उसकी सोच उसे नीलिमा को अधिक स्वतंत्रता देने की इजाजत नहीं देते। इसलिए वह नीलिमा को आजादी तो देना चाहता है लेकिन वह आजादी एक सीमा तक ही देता है। जब भी उसे लगता है कि नीलिमा उस सीमा से अधिक आजादी चाहती है या ले रही है तब वह टकराव की स्थिति बन जाती है। यहाँ हरबंस के माध्यम से पितृसत्तात्मक सोच को दर्शाया गया है। हरबंस नीलिमा को पेंटर बनाना चाहता है जबकि नीलिमा को नृत्य पसंद है। हरबंस अपनी इच्छा नीलिमा के ऊपर थोपता है, जबकि नीलिमा नृत्य को लेकर बहुत ही ज्यादा जुड़ी हुई है। यह टकराव न तो नीलिमा को हरबंस

के करीब आने देती है, और न ही हरबंस को नीलिमा के करीब जाने देती हैं। इस स्थिति में दोनों का ही जीवन घुटन भरा हो गया है। एक–दूसरे के सबसे करीब होते हुए भी दोनों एक दूसरे के लिए अजनबी हैं। यह घुटन और लड़ाई अर्थ की नहीं है, अहम की लड़ाई भी अंशतः नहीं है। यह लड़ाई है दो व्यक्तित्व की। दोनों व्यक्तित्व एक साथ एक–दूसरे के अहम की तुष्टि करते हुए कैसे साथ रह सकते हैं? सवाल यह है। यह सवाल मध्य वर्गीय समाज में बड़े पैमाने पर रहता है। सन् 1960 ई. के बाद के समय में दांपत्य जीवन को लेकर कई रचनाएं लिखी गई जिसमें स्त्री, उसकी स्वतंत्रता जैसे मुद्दों को केंद्र में रखा गया। "स्वातंन्र्योत्तर काल में नारी अपने अधिकारों के प्रति अति सचेत हुई।

वैधानिक रूप में आज नारी को पुरुष के समान सारे अधिकार प्राप्त है। परंतु नारी कहीं ना कहीं आज भी सदियों पुरानी वही नारी है। वह सामाजिक रस्मों रिवाजों को स्वेच्छा से स्वीकार करती हुई पिता, पति, पुत्र के साथ सुरक्षित महसूस करती है।"[9] नीलिमा भी आधुनिक स्त्री बनने की कोशिश तो करती है किंतु इस कोशिश में कई बार वह नाकामयाब भी होती है। हरबंस की हर सही गलत माँग को वह पूरा नहीं करती है। इससे दोनों के बीच टकराव की स्थिति उत्पन्न होती है। किंतु कई बार अपने परंपरागत संस्कारों के कारण नीलिमा ने हरबंस की कुछ मांगों को पूरा किया है जो कि सही नहीं था। जैसे नीलिमा की रुचि नृत्य में होते हुए भी हरबंस के कहने पर उसने चित्रकला को अपनाया। उस समय को नीलिमा ने हरबंस की बात मानकर गँवा दिया। यदि वह आरंभ से ही अपने नृत्य को ही निखारती तो शायद वह स्वयं को और जल्दी स्थापित कर पाती। यह नीलिमा के संस्कार ही थे जिसने उसे उसकी इच्छाओं के खिलाफ हरबंस की बातों को मानने के लिए मजबूर किया।

यही वो संस्कार है जिसने नीलिमा को बर्मी कलाकार ऊ बा नू के करीब जाने से रोका। ऊ बा नू नीलिमा की हर बात मानता था। यह बात उसे बहुत पसंद थी। नीलिमा अपने उस घर में जहाँ उसका पति था, से बहुत दूर जाना चाहती थी इसलिए उमादत्त के डांस ग्रुप के साथ वापस नहीं आई। वह दो दिन बर्मी कलाकार के साथ रही। किंतु नीलिमा के संस्कारों ने उसकी इच्छाओं और आकर्षण का दमन किया। नीलिमा लौटकर उसी घुटन भरे माहौल में वापस आ गई जिससे वह भाग कर गई थी। इसके साथ ही उसने हरबंस को बर्मी कलाकार के बारे में सब कुछ बता दिया। नीलिमा के सच बताने पर हरबंस के मन में एक शक की स्थिति बनी रही।

किन्तु यहाँ हरबंस के माध्यम से पितृसत्तात्मक सोच के दोहरे चरित्र को दर्शाया गया है। नीलिमा के अपने और बर्मी कलाकार के साथ घूमने और हरबंस से दूर जाने के विचार के बारे में बताने पर हरबंस क्रोधित हुआ। लेकिन स्वयं हरबंस का शुक्ला के प्रति झुकाव, उसके जन्मदिन को याद रखकर नीलिमा के जन्मदिन को भूल जाना, सुषमा के साथ उसके सम्बन्ध को लेकर समाज में जो बातें कही जा रही थी उन सभी को लेकर हरबंस को खुद पर न कोई खीझ है और न ही कोई कमी वह खुद में मानता है। मधुसूदन के इन वाक्यों से हरबंस के दोहरे चरित्र का पता चलता है– "साथ–साथ घर होने से नीलिमा और शुक्ला का एक–दूसरे के घर में काफी आना जाना रहता था, जो हरबंस कहता था उसे बिल्कुल पसंद नहीं है। यह बात मेरी समझ में नहीं आई ऐसी स्थिति में

उसने वहां घर लिया ही क्यों था। सुरजीत और शुक्ला तो 4 महीने से पहले ही डिफेंस कॉलोनी में घर लेकर रह रहे थे।"[10]

यहाँ एक बात गौर करने की यह है कि हरबंस शुक्ला की शादी से खुश नहीं है लेकिन वह अपना बनावटी गुस्सा शुक्ला के लिए दिखाता है। शुक्ला पहले से ही सुरजीत के साथ डिफेंस कॉलोनी में रहती थी। वहीं पर घर खरीदने का फैसला अकेले नीलिमा का तो नहीं था। फिर यह दिखावा करना उसके दोहरे चरित्र को दर्शाता है।

इस उपन्यास में अकेलेपन के दर्द को बयां किया गया है। यह अकेलापन हरबंस को इस कदर परेशान कर देता है कि उसका घर उसके लिए घर नहीं रह जाता। वह सुकून ढूंढने के लिए अक्सर घर से बाहर भी चला जाता है। इसकी अति या चरम स्थिति तब देखने को मिलती है जब हरबंस घर ही नहीं बल्कि देश छोड़कर भी चला जाता है। हरबंस के अकेलेपन को मधुसूदन इस प्रकार व्यक्त करता है। "उसे अपने अंदर इस बात की जरूरत महसूस होती थी कि कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसका उसके साथ उठना बैठना– नीलिमा और शुक्ला की वजह से ना होकर उसकी अपनी वजह से ही हो और जो कम से कम एक व्यक्ति के रूप में तो उसे गंभीरता पूर्वक ले। उसकी यह भूख इससे शायद और भी बढ़ जाती थी कि नीलिमा बात बात पर उसका मजाक उड़ाने लगती थी। हरबंस को शायद खयाल था कि उसकी इस भूख को मैं मिटा सकता हूँ।"[11]

यहाँ हरबंस अपनी समस्याओं में इस कदर डूबा हुआ है कि अपने टूटे – बिखरे रिश्ते को संभालने का प्रयास न उसकी ओर से होता है और न ही नीलिमा की ओर से। उनके बीच में समस्याएँ इस कदर बढ़ गई कि इस से अलगाव की स्थिति भी लगातार बनती रही है। वह अलगाव पूर्णतः हो भी नहीं रहा है। साथ होकर भी हरबंस अकेला है और नीलिमा भी अकेली है। यह समस्या दाम्पत्य जीवन की समस्या के साथ–साथ उस वर्ग और उस समाज की भी समस्या है जहाँ दो व्यक्तित्व एक साथ रहकर अपना विस्तार चाहते हैं। यह दो व्यक्तित्व की टकराहट है जो दोनों को पास नहीं आने देते। यही स्थिति ठीक उलट होती अगर नीलिमा घरेलू स्त्री होती और उसकी अपनी कोई इच्छा, विचार, व्यक्तित्व नहीं होता। हरबंस को शुक्ला के साथ समय बिताना या उसका व्यक्तित्व अधिक पसंद इसलिए है क्योंकि शुक्ला एक गृहिणी ही बनना चाहती है। वह हरबंस की सभी बातों को सर्वोपरि मानती है। शुक्ला स्वयं के लिए अपना आकाश, अपनी धरती नहीं तलाश रही है। वह उसी आकाश, उसी धरती पर रहना चाहती है जहाँ उसका पति है। जहाँ उसका परिवार है। किंतु नीलिमा अपना आकाश माँगती है। उसकी यह माँग ही हरबंस के साथ उसकी लड़ाई झगड़ों का कारण है। हरबंस उसकी वही माँग पूरी करना चाहता है जिसे वह उचित समझता है। जिस माँग के कारण नीलिमा हरबंस से अधिक ऊपर न जा सके या हरवंश का व्यक्तित्व नीलिमा के व्यक्तित्व के सामने बौना दिखाई न दे।

यहाँ हरबंस का दोहरा चरित्र नजर आता है। हरबंस का यह दोहरा चरित्र मध्यवर्गीय समाज के उस पहलू पर प्रकाश डालता है जिसमें कुछ लोग अपने लाभ के लिए जिन बातों का समर्थन करते हैं। तो दूसरे के लाभ के समय उसी बात का विरोध करते हैं। उदाहरण के तौर पर देखें तो नीलिमा को शराब पीना हरबंस ने ही सिखाया था। लेकिन उच्च वर्ग में शामिल होने के लिए जब हरबंस और नीलिमा दोनों बड़ी पार्टियों में जाते थे और नीलिमा जब वहां शराब पीती थी तो इससे

हरबंस को दिक्कत होती थी किंतु यह दिक्कत उसे तब नहीं हुई जब उसने नीलिमा को यह शराब पीना सिखाया या जब वह स्वयं बहुत शराब पीता था। यहाँ एक व्यक्तित्व की टकराहट हमेशा बनी रही है। इसी व्यक्तित्व की टकराहट से बचने के लिए मधुसूदन ने सुषमा से दूरी बना लिया और उस बच्ची निम्मा जो कि उसके सामने 9 साल पहले एक छोटी बच्ची थी और उस बच्ची की मां को वह भाभी कहता था, से विवाह करने के लिए तैयार हो गया और आगे बढ़ने लगा। मधुसूदन का इस व्यक्तित्व की टकराहट और दांपत्य जीवन में समस्या से बचने के लिए यह कदम बहुत ओछा प्रतीत होता है। यह वही मधुसूदन है जिसने अपने लाभ के लिए एक ऐसी रिपोर्ट बनाई जिसमें कस्साबपुर की तंग गलियों की समस्याओं को दिखाया और उस रिपोर्ट को पढ़कर उन गलियों को उन घरों को तोड़ने के लिए नोटिस भी आ गया था। उन निम्नवर्गीय परिवार के लोगों से उनका घर न छीना जाये इसके लिए उसने कोई प्रयास नहीं किया।

इस उपन्यास में निम्नवर्गीय समाज का चित्रण भी किया गया है। निम्नवर्गीय समाज के आपसी रिश्ते, प्रेम समर्पण व सहयोग हमें ठकुराइन के चरित्र में दिखाई देता है। ठकुराइन मधुसूदन के आने तक उसका इंतजार करती है। उसके लिए गर्म खाना बनाती है। वह जरूरत पड़ने पर उसे पैसे भी देती है। यह स्नेह, एकता हमें इन निम्नवर्गीय पात्रों में दिखाई देते हैं, जिसका अभाव मध्यवर्गीय पात्रों में रहा है। किन्तु शुक्ला द्वारा ठुकराए जाने पर मधुसूदन कामान्ध होकर उस ठकुराइन को भी भोगना चाहता है, जिसने उसे वक्त बेवक्त सहारा दिया। इस प्रकार की घटनाएं मध्यवर्गीय समाज के कुछ व्यक्तियों के नैतिक पतन को दर्शाती है।

यह उपन्यास हमारे सामने असफल दाम्पत्य जीवन की विसंगतियों को प्रस्तुत करता है। नीलिमा और हरबंस एक–दूसरे के जीवन में घुटन और तनाव का कारण बनते हुए भी एक दूसरे से अलग नहीं होते हैं। नीलिमा नृत्य प्रदर्शन की असफलता के बाद घर छोड़ कर तो जाती है, किन्तु अगले ही दिन वापस लौट आती है। लेखक इस घटना से इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि विवाह संस्था एक अँधेरा बंद कमरा है। इससे निकलना मुश्किल है। तभी तो पल–पल घुटन, तनाव, झगड़े के बाद भी हरबंस और नीलिमा अलग नहीं हो पाते हैं।

इस उपन्यास को आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। इसके केंद्र में मधुसूदन है जो कि कथा को लिख रहा है। इसमें पूर्वदीप्ति शैली का प्रयोग भी किया गया है। इसके माध्यम से मधुसूदन कभी कुछ वर्ष पहले की बात को बताता है, तो कभी वर्तमान की स्थिति को बताता है। इस उपन्यास में मोहन राकेश ने चित्रात्मकता को भी स्थान दिया है। मधुसूदन द्वारा हरबंस का वर्णन उसका एक उदाहरण है– "हरबंस को 9 साल के बाद मैंने पहली बार देखा य उसका चेहरा मुझे और चेहरों की बनिस्बत कहीं ज्यादा बदला हुआ लगा उसके गालों का मांस कुछ थल थला गया था जिससे वह अपनी उम्र से काफी बड़ा लगने लगा था। उसे देखते ही पहला विचार मेरे दिमाग में आया कि क्या मैं भी उतना ही बड़ा लगने लगा हूँ उसके सिर के बाल काफी उड़ गए थे।"[12]

भाषा के संदर्भ में जब हम इस उपन्यास को देखते हैं तो हम पाते हैं कि इसमें समय –समय पर अरबी फारसी के शब्दों जैसे 'गोश्त'[13] 'मुआफिक'[14] 'बेतकल्लुफी[15] जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसके साथ ही पात्रों के अनुसार अंग्रेजी के शब्द जैसे 'एब्सेंट माइनडिड[16]' 'जर्नलिस्ट' 'रेप्युटेशन'[17] 'नेशनल स्टार' आदि जैसे शब्दों का प्रयोग किया है यहाँ पत्रकारिता की दुनिया में

प्रचलित कुछ शब्दों को भी कई बार प्रयोग किया है। इस प्रकार भाषा बहुत प्रभावशाली रूप में हमें इस उपन्यास में दिखाई देती है। संवाद बहुत ही प्रभावपूर्ण हैं। वाक्य छोटे हैं किंतु यह पाठक को उपन्यास से जोड़े रखते हैं इस उपन्यास की एक विशेषता यह भी है कि इसमें एक कहानीपन का गुण है। ऐसा लगता है जैसे इसको पढ़ते हुए हमारे सामने कोई हमें कहानी सुना रहा हो। उसके कुछ चित्र भी हमारे सामने बनने लगते हैं। जिससे यह उपन्यास पठनीय बन जाता है। यह उसका एक बहुत अच्छा गुण है जो कि इसे लगभग 400 पृष्ठ होने पर भी उबाऊ या नीरस नहीं बनाता है। यह उपन्यास मध्य वर्गीय समाज और निम्न वर्गीय समाज की स्थिति और मानसिकता को पाठकों के समक्ष पूरी नग्नता के साथ प्रस्तुत करता है।

जहाँ एक ओर लेखक अपनी रचनाओं में कुछ बातों के द्वारा व्यवस्थित रूप से वास्तविकता को दर्शाते हैं तो दूसरी ओर लेखक की अपनी सीमाएं भी होती हैं। मोहन राकेश की भी कुछ सीमाएं इस उपन्यास में देखने को मिलती है। एक उदाहरण के तौर पर हम देखते हैं कि भार्गव नीलिमा की थपकी से थोड़ा अव्यवस्थित हो जाता है और लेखक यहाँ एक पंक्ति का इस्तेमाल करते हैं "भार्गव उसकी थपकी से कुछ अव्यवस्थित हो जाता और उसका चेहरा लड़कियों की तरह लाल हो उठता।"[18]

यहाँ गौर करने की बात यह है कि अव्यवस्थित होने का अर्थ या शर्माने का अर्थ, चेहरा लाल होने के संदर्भ में दिया गया है जिसको सिर्फ लड़की से जोड़कर बताया गया है। यानी चेहरा लाल होने का तात्पर्य सिर्फ लड़की से ही हो सकता है। लड़के से यह किसी रूप में जुड़ नहीं सकता यह लेखक की एक सीमा मानी जा सकती है। हालाँकि समाज की लड़कियों के प्रति कुछ इसी प्रकार की सोच है। अतः एक लेखक से समाज कुछ अधिक उम्मीद रखता है।

एक और बात जो कि पाठकों खटक सकती है वो यह है कि लेखक ने आत्मविश्वास को पुरुषत्व से परिभाषित करने का प्रयास किया है जो कि इस उपन्यास की एक कमजोड़ कड़ी है। मधुसूदन ने एक प्रोफेसर की पत्नी का चित्रण कुछ इस प्रकार किया है–" उसने गले में जनपथ के तिब्बतियों से खरीदा हुआ एक बड़ा सा ताबीज पहन रखा था और उसके हाव–भाव में अपने पति की अपेक्षा कहीं अधिक पुरुषत्व झलकता था। वह आते ही इस बेतकल्लुफी से सारे घर का निरीक्षण कर आई जैसे वह वहां पहले भी कई बार आई हो और हरबंश और नीलिमा उसके घनिष्ठतम मित्रों में से हों। बातचीत में उसे अधिक सुख मिलता था जब वह खुद बोल रही होती। वे झपट कर किसी के भी मुंह से बात छीन लेती थी और खुद बात करने लगती थी।"[19]

यहाँ गौर करने की बात यह है कि प्रोफेसर की पत्नी के चरित्र का वर्णन मधुसूदन ने जिस प्रकार किया है उसमें उसके आत्मविश्वास, उसके चंचल स्वभाव, उसके मिलनसार होने के गुणों को मधुसूदन ने पुरुषत्व के नाम से परिभाषित किया है। अर्थात घुलने मिलने, बातचीत करने, आत्मविश्वास रखने और बेतकल्लुफी के साथ किसी के घर का निरीक्षण करना, यह सभी गुण एक पुरुष का गुण ही हो सकता है इस प्रकार की व्याख्या इस उपन्यास की एक कमी को दर्शाती है।

ये जो सीमाएं हैं जिनकी ऊपर बात की गई है वे इसलिए महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं कि इन वाक्यों का सम्बन्ध एक शिक्षित और सम्मानित पत्रकार से जुड़ा हुआ है। एक और महत्त्वपूर्ण बात इस

उपन्यास में यह है कि इस उपन्यास में मध्यवर्गीय समाज के लगभग सभी पात्र असंतुष्ट और कुंठित से दिखाई देते हैं। फिर चाहे वह हरबंस हो नीलिमा हो या फिर मधुसूदन।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मोहन राकेश ने अपने उपन्यास 'अँधेरे बंद कमरे' में मध्यवर्गीय समाज का संघर्ष, चुनौतियाँ, बाह्य आडम्बर, कुंठा, इर्ष्या, दाम्पत्य जीवन की विसंगतियाँ, खुद को स्थापित करने की लालसा आदि को चित्रित किया है। हरबंस और नीलिमा के माध्यम से दाम्पत्य जीवन की कटुता, टकराहट, व्यक्तित्व संघर्ष, खोखलापन को दिखाया है। पति पत्नी के झगड़े में नन्हा अरुण भी इससे प्रभावित होता है।

संदर्भ–सूची :–

1. उद्धृत, डॉ.राकेश कुमारी, मोहन राकेश के कथा साहित्य का संवेदना पक्ष, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण 2004, पृष्ठ –17।
2. डॉ.वीरेन्द्र मेहंदीरत्ता, मोहन राकेश का साहित्य, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, सं 1990 पृष्ठ सं –94।
3. उद्धृत, प्रतिभा अग्रवाल, मोहन राकेश भारतीय साहित्य के निर्माता, साहित्य अकादेमी, पुनर्मुद्र्ण 2004–पृष्ठ 39, 40।
4. उद्धृत, डॉ.राकेश कुमारी, मोहन राकेश के कथा साहित्य का संवेदना पक्ष, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण 2004, पृष्ठ –17।
5. मोहन राकेश, अँधेरे बंद कमरे, राजकमल पेपरबैक्स, सोलहवाँ सं–2018, पृष्ठ–15।
6. वही, पृष्ठ– पृष्ठ संख्या–37।
7. वही, पृष्ठ संख्या– 55।
8. वही, पृष्ठ संख्या –57।
9. डॉ. विजयलक्ष्मी, समकालीन हिंदी उपन्यास समय से साक्षात्कार, डॉ. राधा कृष्ण पब्लिकेशन, पटना, पहली आवृत्ति 2009' पृष्ठ संख्या –79।
10. मोहन राकेश, अँधेरे बंद कमरे, राजकमल पेपरबैक्स, सोलहवाँ सं–2018, पृष्ठ संख्या–147।
11. वही,पृष्ठ संख्या– 71।
12. वही, पृष्ठ संख्या –12।
13. वही, पृष्ठ संख्या –103।
14. वही,पृष्ठ संख्या –103।
15. वही पृष्ठ संख्या – 55।
16. वही,पृष्ठ संख्या–138।
17. वही पृष्ठ संख्या–139।
18. वही, पृष्ठ संख्या 51।
19. वही, पृष्ठ संख्या 312।

दुःखद्-मानसिकता की तहरीर : 'भया कबीर उदास'

डॉ. प्रियंका *

हिन्दी साहित्य में पितृसत्तात्मक प्रवृत्तियां किस कदर हावी हैं, इस बात का अंदाजा इस तथ्य से सहज ही लगाया जा सकता है कि किसी भी स्त्री या नायिका का चरित्र बिना उसकी देहसंरचना के वर्णन के पूर्ण नहीं होता। नायिका हो या नायिका की सखी, उसके शरीर की मांसलता, आवश्यक उभार और कटि क्षेत्र का वर्णन यदि न किया जाए तो फिर कवि या लेखक की लेखनी सिद्ध नहीं होती। 'भया कबीर उदास' में यदि स्त्री केन्द्रित तत्वों की खोज की जाए तो यह खोज जिस ध्रुव सत्य पर जाकर समाप्त होती है वह और कुछ नहीं– ''देह के मायने'' है। इस उपन्यास की नायिका का जीवन एक खोज यात्रा है और इस यात्रा में जो खोज सामने आती है वह है– ''मात्र शरीर की खूबसूरती या पूर्णता में ही स्त्री जीवन के मायने नहीं छुपे है।''

देशी–विदेशी परिवेश के मिले–जुले रूप में रची गयी पृष्ठभूमि का यह उपन्यास कई, प्रश्नों को उठाते हुए उसका समाधान भी देता है। शरीर की पूर्णता–अपूर्णता का प्रश्न किसी न किसी स्तर पर मन और जीवन की पूर्णता के प्रश्न से भी जुड़ जाता है। यह उपन्यास शुरू से लेकर आखिर तक इसी सवाल से जुझता है कि क्या सौन्दर्य के प्रचलित मानदण्डों और समाज की रूढ़ दृष्टि के अनुसार एक अधूरे शरीर को उन सब इच्छाओं को पालने का अधिकार है, जो स्वस्थ्य और सम्पूर्ण देह वाले व्यक्तियों के लिए स्वाभाविक होती है।

उषा प्रियवंदा के इस उपन्यास की मूल चेतना को उसी की एक पंक्ति के सहारे समझा जा सकता हैः ''दुःखग्रस्त मानसिकता बार–बार एक ही पटरी पर गोल–गोल भागती रहती है, बार–बार वही प्रश्न मन में उठते हैं और कोई उत्तर न पाकर विलीन हो जाते हैं।''[1]

जब तक उत्तर नहीं है, दुःख बरकरार है और उत्तर के लिए अन्त तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। दुःख की प्रतीति इस रचना का स्थायी भाव है जिससे अस्थायी मुक्ति का एहसास उपन्यास की मुख्य पात्र लिली को उपन्यास के अन्त में होता है।

उपन्यास की नायिका लिली पाण्डेय (यमन) अपने जीवन को भौतिक सुखों के साथ जीना पसंद करती है। लिली वर्षों से विदेश में प्रवासिनी है। अपने आकर्षक शरीर को वह कुदरत का नायाब तोहफा और स्त्रीत्व की प्रधान शर्त मानती है। 35–36 साल की उम्र में विदेशी भूमि पर अपना सहज और अल्पाकांक्षी जीवन जी रही होती है। पर उसके इस आत्मविश्वास वृद्धि के कारक को गंभीर आघात पहुँचता है, जब अचानक उसे मालूम होता है कि उसके स्तन में कुछ गांठे है। उन गांठों को देखते ही दिमाग में कैंसर शब्द कौंध जाता है। फिर एक्सरे, मेमोग्राफी जिसकी रिपोर्ट एब्नॉर्मल; एक के बाद एक कई रेडियोलॉजिस्ट, सामूहिक निर्णय–बायोप्सी।

वह रिक्त प्रतिक्षारत, स्वयं में ही खोयी हुई, अपनी कैंसरग्रस्त सहेलियों को बारी–बारी याद करती हुई जिन्हें वह मौन हत्यारा कब का लील गया था। इन्हीं सब उदासियों में धिरी हुई उसे डॉ०

*** पूर्व–शोधार्थी, हिन्दी विभाग, सेण्ट एण्ड्रयूज कॉलेज, गोरखपुर, (दी०द०उ०गो०वि०, गोरखपुर)।**

जैकरी का फोन कॉल आता है। वह कहते है– ''मुझे दुःख है, यह कहते हुए कि– बायोप्सी में कैंसर के सेल निकले हैं।''[2]

वह सुनकर अवाक रह जाती है। जब उसे पता चलता है कि उसे अपने प्रिय अंग को गंवाकर ही इस बीमारी से मुक्ति मिल सकती है। उसका धैर्य टूट जाता है। वह सोचने लगती है– ''कैंसर! क्या इस जीवन का इतना भयावह अन्त मेरे ही भाग्य में था?''[3] वह अरब सागर के लहरों को देखती हुई अपने भीतर की आग को महसूस करती है– ''कितना दाह है इस शरीर में; जैसे हजारों बरसातें भी उसे दूर नही कर पायेंगी।''[4] रोग की शिनाख्त हो चुकी है। डॉक्टर अपना फैसला सुना चुके हैं– ''बहुत अधिक फैलने के आसार नहीं लगते। कैंसर प्रोटोकॉल के बाद आप पाँच–छह साल मजे से जी सकती हैं।''[5] बाकी है 'प्रोटोकॉल डिस्कस करने' के लिए रोगी की वापसी।

इस आरम्भिक परिचय के बाद रोग से जुड़ी चिन्ताओं, आशंकाओं और आतंक का आलापीय राग शुरू होता है। ऐसे जानलेवा रोग से पैदा होने वाली दुश्चिन्ताएँ स्वाभाविक हैं– ऐसी स्थिति में और भी जब रोगी की आयु बहुत न हो। स्त्री हो या पुरूष, यह बोध कि कम उम्र में ही व्यक्ति बचे–खुचे वर्ष दैव अनुकम्पा की कृपा पर जी रहा है, किसी का भी मनोबल तोड़ने के लिए काफी है। पर उपन्यास में इस विषाद पर स्त्रीत्व की गहरी छाप है। ऐसा स्त्री–मन जो आत्ममुग्धता और स्वरति से आक्रान्त है।

सब जानते हैं कि कैंसर के विविध रूपों में सबसे साध्य और कम घातक ब्रेस्ट कैंसर ही होता है। यूँ भी मरीज की पहली चिन्ता जिन्दगी बचाने की और यथासम्भव आयु बढ़ाने की होती है, न कि इस बात की कि– ''मेरे एकदम वृत्ताकार, भरे–भरे, स्वर्ण–कटोरों–उरोज–पुर्णेन्दु जैस....''[6]. 'जो अनकहा छोड़ दिया गया वह यह है कि वे 'वे आपरेशन की भेंट चढ़ गए।' उरोज ही नहीं, आपरेशन और थेरेपी के बाद गोवा आने पर बरसात में भीगते हुए यह विश्वास कि– ''उसके पाँव बहुत सुन्दर हैं, एकदम सुधढ़ उँगलियाँ और अँगूठे सानुपात, सुडौल इसी स्वरति के कारण जब से आई है, रेत पर निशान छोड़ रही है।''[7] यही नही कहीं से उभरता हुआ स्वर– ''तुम्हारी आँखें कितनी सुन्दर हैं, तुम्हारी हँसी कितनी मीठी और सुरीली।''[8]

मन में सवाल तो उठता ही है कि क्या लगातार छीजते जीवने का एहसास व्यक्ति को इतना आत्मग्रस्त बना देता है। जबकि सच्चाई यह है कि कीमोथेरेपी से दग्ध वक्ष के पुरते हुए घावों पर नई त्वचा आने की खिंचन यह भूलने नहीं देती कि वह इलाज की उत्तर–अवस्था की गिरफ्त में है। अपने जीवन के भयावह क्षणों को याद करते हुए वह गोवा का रूख करती है। गोवा पहुँचने के बाद उपन्यास के शीर्षक 'भया कबीर उदास' के अन्तगर्त 'कैंसर डायरी' का सिलसिला शुरू होता है। गोवा में ही उसके जीवन में वनमाली का प्रवेश होता है।

इस उपन्यास का दूसरा सशक्त पात्र है वनराज (वनमाली)। यमन गोवा में आकर जिस कॉटेज में ठहरती है उसका मालिक वनराज ही रहता है। वनराज एक पटू बिजनेसमैन, संगीतप्रेमी, कविता और अध्यात्म पर पूरी पकड़ रखने वाला वनस्पतिशास्त्र का विशेषज्ञ है। इतनी सारी विशेषताओं के कारण वह वनमाली को पसन्द करने लगती है। वनमाली (वनराज) जो उसे बचपन से प्रेम करता था–

''चौदह साल की उम्र से ही छिप–छिपकर तुम्हें देखा करता था; तुम मेरे लिए आकाश के तारों की तरह अल्भ्य थीं...।''[9] यह अलभ्य लड़की, उसकी अभुक्त कामना का मूर्तिमान रूप जब एक दिन अचानक उसके छोटे–से होटल की लॉबी में आकर खड़ी हो गई, तो होटल बन्द हो जाने पर भी उसे लौटा देना सम्भव नहीं हुआ। वनमाली बचपन से ही यमन से प्रेम करता था, अपनी व्यस्तताओं के बावजूद भी उसके साथ समय व्यतीत करता है। जिससे यमन की रिक्तता धीरे–धीरे भरने लगती है। अचानक एक दिन अपनी तमाम पीड़ा और आवेग के बीच ही अपने अधूरेपन को पूरी तरह से वनराज के बीच खोल देती है–

''उसने सिसकियों के बीच कहाँ; 'यह बिल्कुल ओके नहीं है।' फिर एक क्रूर आत्मदंश झटके से उसने अपना कपड़ा अलग कर दिया।''[10] इस पर वनमाली कहता है– ''मैं तुमसे प्यार करता हूँ यमन, प्यार करता हूँ।''[11] इस तरह वनमाली अपनी उदार प्रवृत्ति के कारण यमन ही नहीं सभी से अत्यधिक प्यार से पेश आता है। वनमाली का साथ पाकर यमन अपने अवसादग्रस्त जीवन से उबर पाती है। इस प्रकार इस उपन्यास के ये दोनों महत्वपूर्ण पात्र अपनी–अपनी भूमिका में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं और इन सबकी प्रासंगिकता वांछनीय है।

इसके बाद आता है। यमन का पहला प्यार शेषेन्द्र। जो अवसरवादी है। उसका यमन की जिन्दगी में आना और अचानक चले जाना यमन के लिए पीड़ादायी साबित होता है। शेषेन्द्र यमन के लिए घृणा का पात्र ही नहीं बनता क्योंकि कैंसरग्रस्त अकेली यमन को थोड़ा सा प्यार और शरीर–सुख शेषेन्द्र से ही प्राप्त होता है। उसके जीवन में प्रथम पुरूष का आगमन उतना आह्लाद्कारी नहीं दिखता क्योंकि कैंसर की काली छाया के नेपथ्य से पुरूष का प्रवेश होता है। पर जाना वैसा ही त्रासद और पीड़ादायक है, जैसा किसी के जीवन से उसके प्रथम प्रेम के जाने का हो सकता है।

इस उपन्यास में एक ओर मजबूत पात्र है यमन की माँ सौजन्या पाण्डेय (सूजी) जो राय बहादूर की बेटी होने के कारण बहुत ही अभिमानी किस्म की अंग्रेजियत पंसद करने वाली महिला बनकर प्रारम्भ में उभरती है। परन्तु उसके पति की मृत्यु के बाद वह बदल जाती है। दुःख ने मॉजकर उनके भीतर की मनुष्यता को जगा दिया। जहाँ यमन दुःख को तलविहीन कुआँ मानती है– ''दुःख मांजता होगा औरों को, उसके लिए दुःख एक तलविहीन, जलविहीन कुआँ है, जिसमें वह बार–बार गिर जाती है और वहीं कहीं अटक गई है। कोई नहीं उबारने आयेगा उसे।''[12] वही उसे माँ का यह कथन– ''अगर जिन्दगी तुम्हें खट्टा ही खट्टा, यानी नीबू दे, तो समझदार को नीबू का शर्बत बना लेना चाहिए।''[13]

उससे यमन की माँ का सकारात्मक दृष्टिकोण उजागर होता है। यमन अपने भीतर के द्वन्द्व को व्यक्त करते हुए कहती है– ''रोग तो केवल शरीर का ही है, मैंने इतनी जल्दी पराजय क्यों मान ली? नहीं फ़िलिस मै भी धैर्य साहस से लडूँगी, और मैं अवश्य जय पाऊँगी।''[14]

फिर भी शरीर की पूर्णता–अपूर्णता का डर यमन को सताता रहता है। शरीर की अपूर्णता की कल्पना मात्र से वह सिहर उठती है। एक पितृसत्तात्मक समाज के संस्कार उसे इस डर से भर देते है, कि उसके स्तनविहीन शरीर से जो अपूर्णता उपजेगी, उस अपूर्णता के कारण उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व अनाकर्षक और अपूर्ण हो जाएगा। पर क्या शरीर की पूर्णता, उन्नत उरोज, बाकी चितवन

ही एक स्त्री की असली पहचान है? इसी प्रश्न का उत्तर यमन की जीवन यात्रा के माध्यम से उषा जी हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। अपने स्तन कैंसर के आपरेशन, कीमोथेरेपी, इलाज, दवायें, सुईयां इन सब से लड़ती 'यमन' को यह भय लगातार सताता रहता है कि उसकी अपूर्णता उसकी कमी है। उसका जीवन अब अपने अर्थ खो रहा है।

किसी भी पुरूष को वह इस दशा में स्वीकार्य नहीं होगी। यह भय उसे हर पल भगाने को विवश करता रहताहै। वह स्वभाव से पलायनवादी हो जाती है। यहां तक की वनमाली जो उसे स्वयं से भी अधिक प्रेम करता है, उसके प्रणय निवेदन को अस्वीकार कर देती है। उसकी अनावृत्त, आहत छाती देख कर भी बनमाली के प्रेम का सरोवर नहीं सूखता। वह उसे उस रूप में भी अपने जीवन का आधार, अपनी जीवन संगिनी बनाना चाहता है। पर 'यमन; इस पर विश्वास न करते हुए पलायन कर जाती है। पर पलायन के इस क्रम में जब वह गंगा में नौका पर घूम रही होती है तो वह ध्रुव सत्य उसके सामने उद्घाटित होता है, जो उसके जीवन की बेड़ी बन चुके पितृसत्तात्मक संस्कारों से उसे आजाद करवा देता हैं। रूढ़ियों और पूर्वाग्रहों से आजीवन लड़ते हुए कबीर की वाणी उसे राह दिखाती है। **"हाड़ जले ज्यों लाकड़ी, केस जले ज्यों घास।"**[15]

"सब तन जलता देखकर, भया कबीर उदास"।।"[16]

गंगा घाट पर उसे यह भान होता है, कि जीवन की पूर्णता हमारे विचारों से, हमें मिलने वाले प्रेम और स्नेह से है। यह शरीर एक दिन लकड़ी और घास की तरह जल कर खत्म हो जाएगा। गंगा में अपना रोग, दुःख और क्षोभ 'सिराती' यमन यह संदेश देती है, कि– **"नारी की पूर्णता की तलाश प्रेम, सान्निध्य और सहयोग में खोजी जानी चाहिए न कि केवल शरीर में।"'**[17]

हिन्दी के रीतिकाल से स्थापित यह मान्यताएं और स्त्री सौन्दर्य के प्रचलित मानदण्डों को यह उपन्यास सिरे से खारिज करता है और स्त्री के सौन्दर्य की परिभाषा को देह की सीमाओं से आगे जाकर पुनर्परिभाषित करने की जरूरत को यमन के जीवन के माध्यम से रेखांकित करता है। क्योंकि कोई भी बीमारी, कोई भी रोग, कोई भी व्याधि तन को खण्डित और अपूर्ण कर सकती है, मन तो तमाम चोटों के बाद भी अधूरा नहीं होता, वह फिर–फिर पूरा होकर जीवन से, मनुष्य से अपना हिस्सा मांगता है, अपना सुख अपना प्राप्तव्य चाहता है।

<u>संदर्भ–सूची :–</u>

1. उषा प्रियंवदा : भया कबीर उदास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण–2007, पृष्ठ सं०–125।
2. वही, पृष्ठ सं०–30।
3. वही, पृष्ठ सं०–30।
4. वही, पृष्ठ सं०–10।
5. वही, पृष्ठ सं०–8।
6. वही, पृष्ठ सं०–11।
7. वही, पृष्ठ सं०–11।
8. वही, पृष्ठ सं०–11।
9. वही, पृष्ठ सं०–181।
10. वही, पृष्ठ सं०–172।
11. वही, पृष्ठ सं०–172।
12. वही, पृष्ठ सं०–144।
13. वही, पृष्ठ सं०–163।
14. वही, पृष्ठ सं०–84।
15. वही, पृष्ठ सं०–178।
16. वही, पृष्ठ सं०–181।
17. वही, पृष्ठ सं०–180।

ဢ★ဣ

हिन्दी कथा साहित्य : नारी

डॉ. प्रज्ञा पाण्डेय *

हिन्दी कहानी के विकास का पहला दौर जिसमें कथा लेखिका के रूप में बंग साहित्य ने प्रतिनिधित्व किया, हिन्दी के अन्य यशस्वी कथाकारों ने भी कहानी लेखन की शुरूआत इसी दौर में की थी। हिन्दी कहानी के 1915 ई0 के बाद शुरू हुए इस दूसरे दौर की कहानियों को देखने से प्रवृत्तियाँ साफ तौर पर झलकती हैं– 1. विवरणात्मक और यथार्थोन्मुखता, 2. रोमाण्टिक भावुकता और कल्पनाशीलता, जिसका अलग–अलग प्रतिनिधित्व क्रमशः प्रेमचन्द और प्रसाद ने किया। युग की प्रवृत्ति के चलते आदर्श की झलक प्रेमचन्द में भी है और प्रसाद में भी।

दूसरे दौर के प्रारम्भ में ही कई महिला कथा लेखिकायें भी उभर कर आयी जिन्होंने सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक समस्याओं से जूझकर छिटपुट कहानियाँ लिखी, फिर भी तत्कालीन विषय माहौल में इन लेखिकाओं की दृष्टि मुख्य रूप से अशिक्षा, पर्दा–प्रथा, बाल–विवाह, आर्थिक परतन्त्रता, विधवा विवाह निषेध जैसी पारिवारिक सामाजिक समस्याओं पर अधिक ही टिकी। राष्ट्रीय जागृति के इस दौर में राजनैतिक चेतना से सम्बद्ध वनलता देवी (नवीन नेता) मुसम्मात ठाकुर सुहाती (बहू का सपना) बंग महिला (भाई–बहन) हेमन्त कुमारी चौधरानी (हिन्दी माता का विलाप) सरस्वती देवी (विमला और कमला की बातचीत) प्रियम्वदा देवी (लोही की रात) सरस्वती देवी (घण्टी बज गयी) आदि अनेक कहानियाँ प्रकाश में आयी। अपने सीमित अनुभव के क्षेत्र में लिखी गयी इन कहानियों का निश्चित रूप से अपना अमूल्य महत्व है। बावजूद इसके महिला कथा–लेखिकाओं का सिलसिला लगभग 1922 ई0 से प्रकाश में आता है। वस्तुतः 1922 ई0 में चाँद और माधुरी, पत्रिकाओं का प्रकाशन ही नारियों के बौद्धिक विकास को व्यवहारिक रूप देने के लिए किया गया था। सन् 1930 ई0 के आस–पास प्रसाद और प्रेमचन्दीय प्रवृत्तियों के स्थान पर गांधीवाद, मार्क्सवाद और फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित होकर कहानी के क्षेत्र में जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल आदि कथा लेखक आते हैं वहीं महिला लेखिकायें भी इस ओर मुड़ती हैं, उनका भी योगदान कहानी विधा के विकास कम नहीं हैं। आधुनिक समाज की प्रगति की सूचना की एक बड़ी शर्त है कि स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह सजग हो किसी भी समाज की रचनात्मकता या सृजनशीलता को देखने के लिए जरूरी है कि उसमें नारियों की भूमिका क्या रही? इस दृष्टि से इतिहास में उनकी भूमिका दूसरे दर्जे पर रही पुरुष सत्ता प्रधान समाज में इनका सामाजिक महत्व नगण्य ही रहा पर आधुनिक दुनिया ने इस मिथ को तोड़ा।

सामाजिक हिन्दी कहानी में प्रमुख रूप से परम्परागत जीवन मूल्यों के विघटन का स्वर सुनाई देता है, संयुक्त परिवारों का विघटन, पुरुष के अधिकारों का विघटन। इस प्रकार मूल्य संघर्ष की स्थिति को लेकर आज की हिन्दी कहानी में विविध स्वर सुनाई देते हैं। ये स्वर कहीं पीड़जनित है, कहीं परिवर्तन के पोषक, कहीं विघटन समर्थक है और कहीं विद्रोहात्मक है किन्तु इतना निश्चित है कि यह स्वर कहीं भी परम्परावादी या सुधारवादी नहीं है।[1] स्वतन्त्रता पूर्व के दृष्टिकोण की

*** प्रवक्ता–हिंदी, रावर्ट्सगंज संस्कृत महाविद्यालय, रावर्ट्सगंज–सोनभद्र।**

कहानीकारों की अपेक्षा स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों में बोध के कई स्तर दिखाई देते हैं। नारी का दृष्टिकोण जीवन के विभिन्न सन्दर्भ में बदला है जिससे नारी कथाकार अछूती नहीं है। एक ओर जीवन की परम्परागत मान्यताएँ, जर्जरित मूल्य और बिखरे हुए संकल्प है तो दूसरी ओर संस्कारबद्ध चेतना के विरोध में चुनौती भरी जिन्दगी है। युगबोध की केवल सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक धरातल पर नहीं देखा जा सकता है। युगबोध का अन्तर्जगत स्वातन्त्र्योत्तर कहानी की पूर्ववर्ती कहानी से अलग करने वाली महत्वपूर्ण कड़ी है। आधुनिक कहानी में बदलते पारस्परिक सम्बन्धों, कुण्ठा, अनास्था, निराशा, पराजय, व्यर्थता, अकेलापन, अजनबीपन, संत्रास, अस्तित्वशून्यता और मृत्युबोध दिखाई देता है। ममता कालिया की (उन्मत) मंजुल भगत की (कबाड़) शिवानी की (कृष्णावेणी) राजी से 6 (मेरे लिए नहीं) की कहानियों में युगबोध का अन्तर्जगत स्पष्ट दिखाई पड़ता है। युगबोध से उत्पन्न आन्तरिक तनाव के काण जो स्थितियाँ सामने आई हैं उनकी ही जिक्र है इन कहानियों में।

अविवाहित नारी के सम्बन्ध में आज दृष्टिकोण बदला है। स्वतन्त्रापूर्व की कहानी में अविवाहित नारी समस्या थी जबकि स्वातन्त्र्योत्तर कहानी में अविवाहित मातृत्व को लेकर यथार्थ पूर्ण ढंग से कहानियाँ लिख गयी है। शिवानी (ज्येष्ठा) उसाप्रियंवदा (झूठा दर्पण) निरुपमा सेवती (चुनौती और स्वीकृति) ममता कालिया (जिन्दगी), मन्नू भण्डारी (घुटना) राजीसेठ (मेरे लिए नहीं) आदि ने उक्त कहानियों में नारी–पुरुष के इस अछूते प्रसंग को रेखांकित किया है। आज शरीर की प्रधानता है, बच्चों की नहीं। पुरुष तो सदैव इन स्थितियों में अपने को मुक्त ही रखता आया है, लेकिन अब नारी भी भ्रूण हत्या को पाप नहीं मानती न अपने को पापिष्ठा। ममता कालिया (साथ अपत्नी) निरुपमा सेवती (खण्डित) की कहानियों में अविवाहित जीवन के पहलुओं को व्यक्त किया गया है। स्वतन्त्रापूर्व की ममतामयी, क्षमामयी और सेवा–करुणा की प्रतिमूर्ति नारी अब बदले हुए जीवन बोध को स्वीकार करके मुक्ति की साँस ले रही है। आज का कथाकार चाहे वह महिला हो या पुरुष अपने अनुभवों को व्यापक मानवीय सन्दर्भों में रूपायित करना चाहता है। अनुभव की गहराई और मानवीय संवेदना पहले की अपेक्षा आज के कहानी साहित्य में अधिक प्रमाणिक रूप से उपलब्ध है क्योंकि आज की कहानी का विषय यथार्थ है कोई आदर्श नहीं। उषा प्रियंवदा की कहानियाँ वैयक्तिक एवं समष्टिगत दोनों प्रकार के मूल्यों को आधार बनाकर लिखी गयी हैं। आज के नारी जीवन में स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद जो परिवर्तन आये हैं और जिन नये मूल्यों को आत्मसात करने और पुराने मूल्यों को अस्वीकारने के लिए आज की नारी बिना सोचे–समझे आकुल हो रही है, उसके क्या–क्या परिणाम हुए हैं, उषा प्रियंवदा की कहानियों में वह अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ मुखरित हुआ है।[2] उषा प्रियंवदा की कहानियों में नारी के बदलते मानदण्ड, आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार की दुविधा उनकी मान्यताएँ उनकी खण्डित होती आस्थायें इन सब का उषा प्रियंवदा की कहानियों में वास्तविक चित्रण मिलता है। आपकी कुछ कहानियों में परिवर्तित सन्दर्भ में दाम्पत्य सम्बन्धों का विश्लेषण है। कुछ कहानियों में आत्मपरकता, समसामयिक, युगबोध, को उसकी सही पृष्ठीाूमि में पकड़ने और ईमानदारी पूर्वक अभिव्यक्त करने का सफल प्रयास किया है, सम्प्रेषण की सच्चाई के प्रति इनका आग्रह अधिक है।

मेहरुन्निशा परवेज हिन्दी की उन कथा लेखिकाओं में हैं जिन्होंने अपनी संवेदनशीलता एवं प्रगतिशीलता के बल पर अपनी रचनाओं में मानवीय पीड़ा को पूरी तल्खी के साथ उभारा है। उनकी कहानियों में पीड़ित व शोषित नारी वर्ग की यातनामय जिन्दगी की यथार्थ तस्वीर होती है तो वे

अपनी पैनी दृष्टि से समाज के प्रत्येक वर्ग की समस्याओं, विसंगतियों तथा आधुनिक जीवन की विद्रुपताओं का मार्मिक चित्रण करती हैं। मेहरुन्निशा परवेज अपनी कहानियों में बराबर एक शाश्वत सत्य की खोज में सक्रिय दिखाई देती हैं और यही उनके लेखन की शक्ति है।

प्रह्लाद अग्रवाल, ममता कालिया की कहानियों के सम्बन्ध में धारणा है कि ममता कालिया की स्पष्ट और निर्भीक दृष्टि उनकी बहुत बड़ी शक्ति है उनकी कहानियों में छिपाव नहीं है। उनमें नारी का पुरुष के समानान्तर स्थान बनाने का आस्थापूर्ण प्रयत्न है। ममता ने नारी जीवन के विविध पक्षों को आधुनिक स्थितियों की रोशनी में सूक्ष्मता से पहचाना है। अतिशय भावुकता उनकी कहानियों में नहीं है, किन्तु उनका बहिष्कार भी नहीं है भावुकता जीवन का अनिवार्य अंग बनकर सामने आती है, इसलिए यह गतिरोध नहीं बनती प्रवाह पैदा करती है। जीवन के छोटे–छोटे संवेदनात्मक क्षणों को उन्होंने बड़ी खूबसूरती से पकड़ा है।[3] स्वातन्त्र्योत्तर महिला कहानीकार अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी की तरह द्रष्टा नहीं हैं, बल्कि अपनी स्थितियों की भोक्ता हैं। इन कहानियों में यथार्थ से पलायन न होकर यथार्थ से साक्षात्कार अधिक है। आज की कहानी की सफलता इसमें नहीं है कि वह हमें कितना पठन–पाठन का रस देती है, बल्कि इस अवधारणा में है कि आज की कहानी सामान्य जीवन और उसके अन्तर्निहित विराटशील संवेदनाओं को कहाँ तक स्पर्श करती है। आज साहित्य के सन्दर्भ में स्वीकृत जीवन मूल्यों की सम–सामयिकता पर्याप्त चर्चा का विषय बनी हुई है। अस्तित्ववादी दर्शन के अभाव के फलस्वरूप आज प्रत्येक क्षेत्र में मूल्यवरण की स्वतन्त्रता पर बल दिया जा रहा है। सामाजिक परिवर्तन से प्रेरित बदलते जीवन मूल्यों के प्रति आज का साहित्यकार सजग–सचेष्ट है। उसके साहित्य में इन परिवर्तित जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति मिल रही है। आज की वैज्ञानिक प्रगति और बौद्धिक उन्मेष के फलस्वरूप आज के साहित्यकार के मानव मूल्यों के प्रति सजगता ही अधिक पायी जाती है। वह मोक्ष का आकांक्षी नहीं है। वह मानव मात्र के मातृभाव, अन्तर्राष्ट्रीय साह्चर्य और प्रजातन्त्र में विश्वास रखने लगा है। वह एक नया आध्यात्म ढूढ़ रहा है। सत्य और सौन्दर्य, न्याय और दया और पीड़ितों के प्रति सहानुभूति उसकी आस्था के नये चरण हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों में बदले हुए भारतीय परिवेश समाज की बदलती स्थितियों को अपनी कहानियों में रेखांकित करने का प्रयास किया। इसके लिए उसने हर प्रकार के आरोपण को अस्वीकार किया है और व्यक्ति को आज के परिवेश में रख कर देखा है। इसीलिए आज की कहानी में शाश्वत मूल्यों की जगह मानवीय मूल्यों की चर्चा ही अधिक मिलती है। समकालीन हिन्दी कहानी की यही सार्थकता है कि वह अपने समय के वाह्य तथा आन्तरिक सामाजिक तथा मानसिक संघर्ष की अभिव्यक्ति है। आज प्रत्येक व्यक्ति के भीतर पुरातन और नूतन के मध्य जो संघर्ष चल रहा है उसे इन कहानीकारों ने विभिन्न रूपों देखा है।

संदर्भ–सूची :–

1. राम दरशमोहन मिश्र, सम्पा0 नरेन्द्र, हिन्दी कहानी : दो दशक की यात्रा।
2. डॉ. लक्ष्मी सामा वार्ष्णेय, द्वितीय महायुद्धोत्तर, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 19।
3. प्रह्लाद अग्रवाल, हिन्दी कहानी : सातवां दशक, पृ. 48।

राजेश जोशी की आलोचनात्मक-दृष्टि

पीयूष कुमार*

समकालीन हिंदी कवियों ने आलोचना के क्षेत्र में भी दखल दी है। राजेश जोशी भी उनमें से एक हैं। अपने समकालीन रचनाकारों की रचनाओं का मूल्यांकन करते समय वे तटस्थ और किसी भी प्रकार के पूर्वग्रह से मुक्त रहते हैं। उनका समीक्षा–संसार संस्कृत साहित्य से लेकर हिंदी, अंग्रेजी, रूसी और उर्दू साहित्य तक व्याप्त है। उनके इस आलोचना–कर्म में भक्तिकाल से लेकर इक्कीसवीं सदी तक कि कविता, कहानी, नाटक, आलोचना और उपन्यास तक शामिल है। राजेश जोशी की दूसरी आलोचना–पुस्तक 'समकालीनता और साहित्य (एक कवि की दूसरी नोटबुक)' का दूसरा संस्करण 2015 में राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने अपने समय की कविता और गद्य का लेखा–जोखा प्रस्तुत किया है। इसके पूर्व उनकी पहली आलोचना–पुस्तक 'एक कवि की नोटबुक' का प्रथम संस्करण 2004 में आ चुका था। इन ग्रंथों में वे अपने समय से निरंतर संवाद करते चलते हैं।

राजेश जोशी की दूसरी आलोचना–पुस्तक महत्त्वपूर्ण और विवेच्य है। इस पुस्तक में पाँच खंड हैं। पहले खंड का शीर्षक है– 'कुछ टिप्पणियाँ'। इसमें पाँच लेख हैं, जिनमें बाजारवाद, भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद और प्रौद्योगिकी आदि से उत्पन्न खतरों की ओर संकेत किया गया है। इस खंड के अंतिम लेख में हिंदी की महत्ता को सिद्ध करते हुए वर्णित किया गया है कि हिंदी सभी भाषओं के लिए ढाल की तरह है जो सभी भाषओं और बोलियों को बाजारवाद के तिलिस्म से बचाने का उपक्रम कर रही है। दूसरे खंड का शीर्षक है– 'एक कवि की दूसरी नोटबुक'। इसमें कुल 36 लेख हैं। सभी लेख कवि के विचारों को प्रकट करते हैं। इन लेखों में मुक्तिबोध, शमशेर, त्रिलोचन, वेणुगोपाल, मीरां, ललद्यद, अक्कमहादेवी और भारतेंदु युग के कवि तेग अली उर्फ गुण्डा कवि की कविताई का मूल्यांकन और विश्लेषण किया गया है। इन रचनाकारों पर बहुत ही सार्थक और सटीक टिप्पणियाँ की गई हैं। इस खंड के लेखों को पढ़ते हुए लगता है कि कवि अपनी कविताओं में जिस बात को नहीं कह पाया है, वो यहाँ कहने की चेष्टा कर रहा है। शायद इसीलिए इन छोटे–छोटे लेखों में एक काव्यात्मकता है, एक रसानुभूति है। इसके अलावा ये लेख कहीं–न–कहीं एक विस्तृत शोध की दिशा की ओर भी इशारा करते हैं।

इस पुस्तक के तीसरे खंड का शीर्षक है – 'कुछ कवि कुछ किताबें'। इस खंड के लेखों में प्रसाद के नाटकों के अलावा मायकोव्स्की, नरेश मेहता, शिवमंगल सिंह सुमन, केदारनाथ सिंह और चन्द्रकुंवर बर्त्वाल की कविताओं की विवेचना की गई है। इस खंड के 10 लेखों में त्रिलोचन की 'नगई महरा' और मलय की 'निर्मुक्त अधूरा आख्यान' जैसी लंबी कविताओं पर भी विस्तृत चर्चा मिलती है। चौथे खंड का शीर्षक 'कुछ कवि और कुछ और किताबें' है। इस खंड के 6 लेखों में

*** शोधार्थी, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय, रायां, सुचानी बगला, जिला साम्बा, जम्मू–कश्मीर।**

मनमोहन, अरुण कमल, विष्णु खरे, बद्रीनारायण, लीलाधर मंडलोई, सुदीप बनर्जी, मालवा के लोक कवि भावसार बा और देवी प्रसाद मिश्र की कविताओं का मूल्यांकन किया गया है। पाँचवाँ खंड 'गद्यकाल' है जिसमें कुल 11 लेख संकलित हैं। इन लेखों में प्रेमचंद की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी', हरिशंकर परसाई की व्यंग्य यात्रा, नामवर सिंह की आलोचना, विश्वनाथ त्रिपाठी की जीवनी, श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास 'राग दरबारी' और स्वयंप्रकाश की कहानियों पर सविस्तार प्रकाश प्रक्षेपित किया गया है। इस पुस्तक के अंत में 'अरघान' शीर्षक से 'रामचरितमानस' पर भी एक लेख है। इस लेख में राजेश जोशी तुलसी की सामंजस्य चेतना पर प्रश्नचिन्ह लगाते हैं। उनका कहना है कि– 'बहुत निपुणता के साथ तुलसी निर्गुण सम्प्रदाय की विद्रोही चेतना को अवमूलयित और अदेखा कर देते हैं।३ तुलसी न तो निर्गुणधारा से टकराने के कोई बौद्धिक जोखिम मोल लेते हैं ना ही सगुन और निर्गुण के बीच एक संतोषजनक सामंजस्य ढूंढ पाते हैं।' इसके अलावा जोशी जी तुलसी की दलित और स्त्री विरोधी छवि को भी उजागर करते हैं। भक्ति आंदोलन के उद्‌भव के संदर्भ में वे पुरुषोत्तम अग्रवाल की मान्यता से इत्तेफाक रखते हुए तुलसी की सफलता में भक्ति आंदोलन की विफलता बताते हैं। इसके बावजूद वे तुलसी को अद्वितीय कवि मानते हुए मानस की नाटकीयता और सम्प्रेषणीयता की तारीफ करना नहीं भूलते।

राजेश जोशी अपनी कविताओं की तरह अपनी आलोचना में भी अधिकतर रूपकों के सहारे प्रवृत्त होते हैं। उनकी आलोचना भी मुहावरेदार और सूक्तिपरक है। वे दो–टूक लहजे में अपनी बात कह देते हैं। उनकी टिप्पणियों को पढ़कर कई बार ऐसा लगता है कि जितनी आसानी से हम उनको पढ़ लेते हैं उतनी आसानी से वो लिखी नहीं गयी हैं। इसके पीछे उनका गहन चिंतन और अध्ययन शामिल है। राजेश जोशी न केवल मुख्यधारा के अपितु अलक्षित, अचर्चित रचनाकारों को भी तवज्जो देते हैं। उन्हें इस बात की चिंता भी है कि ऐसे रचनाकारों की चर्चा क्यों नहीं हो पाती? वे इन शब्दों में अपनी चिंता जाहिर करते हैं– 'हमारे कवि अपने आप में इतने खोए हुए रहते हैं कि उन्हें किसी दूसरे को याद करने और दर्ज करने की कोई परवाह ही नहीं है। उनके काव्य रुचिबोध में दूसरे के लिए या तो जगह ही नहीं है या बहुत कम जगह है।' ध्यातव्य है कि वे ऐसी उम्मीद कवियों से कर रहे हैं, समीक्षकों से नहीं। प्रकारांतर से वो कहना चाहते हैं कि कवियों को अपनी और अपने समकालीन कवियों के लिए आलोचना के प्रतिमान खुद ही तय करने होंगे।

राजेश जोशी एक उत्कृष्ट कवि, उम्दा नाटककार, सफल कहानीकार, कुशल अनुवादक, निष्पक्ष संपादक व पत्रकार और एक गंभीर आलोचक हैं। लेकिन वो मूलतः कवि हैं, और एक श्रेष्ठ कवि हैं। इसलिए यह देखते हुए सुखद अनुभूति होती है कि केवल कविता का ही मूल्यांकन उनकी आलोचना के दायरे में नहीं है बल्कि उनकी आलोचना का दायरा कविता से लेकर कहानी, उपन्यास, संस्मरण, आलोचना, निबंध, नाटक, जीवनी और यात्रावृत्तांत तक व्याप्त है। इस पुस्तक के बारे में उनका कहना है कि– 'इस दूसरी नोटबुक में इतना ही फर्क है कि इसमें गद्य की कुछ किताबों पर गाहे–बगाहे लिखी गयी टिप्पणियों को भी शामिल किया गया है।' राजेश जोशी का मानना रहा है कि विभिन्न विधाओं के बीच आवाजाही बनी रहनी चाहिए। शायद इसीलिए उनकी किताब शकिस्सा कोताहश उपन्यास, संस्मरण, गप्प, आत्मकथा और आख्यान का मिलाजुला एक साहित्यिक रसायन लगती है।

राजेश जोशी इस कृति में समकालीन, अग्रज और अनुज साहित्यकारों पर तटस्थ और द्वंद्वरहित होकर सार्थक टिप्पणियाँ करते हैं। इससे पता चलता है कि वे इन रचनाकारों और रचनाओं से कितनी गहराई तक जुड़े हैं। शमशेर के विषय में वे कहते हैं कि– 'शमशेर विनम्र थे, दिखते भी थे पर मुझे लगता है कि वे अपने काव्य कौशल के प्रति जिद्दी भी थे।' इसी प्रकार एक लेख श्आवारगी और कविताश में वे टिप्पणी करते हैं कि– 'वेणुगोपाल की कई कविताएँ अपनी आवारगी के चलते ही बनी हैं। पंकज सिंह और वीरेन्द्र डंगवाल की कविता में आवारगी और सतर्कता के द्वैत और संतुलन के बहुत दिलचस्प उदाहरण दिखाई देते हैं।'

इसी तरह वे कवि विनय दुबे, नरेश मेहता, बद्रीनारायण, सुदीप बनर्जी, आलोक धन्वा और केदारनाथ सिंह आदि पर अपनी राय देते हैं। राजेश जोशी जहाँ कहीं भी अपनी असहमति भी दर्ज करते हैं वहाँ कभी भी उनका स्वर कटु, रोषपूर्ण या आक्रामक नहीं होने पाता। बहुत ही शान्त और विनम्र भाव से वे अपनी बात कहते चलते हैं। कवियों के अलावा कथाकारों और आलोचकों पर भी महत्त्वपूर्ण उक्तियाँ हैं। प्रेमचंद, हरिशंकर परसाई, विश्वनाथ त्रिपाठी, शशांक, विनोदकुमार शुक्ल, दूधनाथ सिंह और नामवर सिंह आदि के विषय में वे बहुत सावधान, तटस्थ और सहज होकर अपना वक्तव्य देते हैं। दूधनाथ जी के बारे में उनका कहना है कि– 'दूधनाथ सिंह की एक बड़ी खूबी है कि जब–जब नदियों का जिक्र आता है वे लगभग मुक्त होकर वर्णन करने में खो–से जाते हैं। इसलिए उनकी अयोध्या के किनारे पर सरयू नहीं है, सरयू के किनारे अयोध्या है।' दूधनाथ जी के उपन्यास श्आखिरी कलामश को वे श्आस्था के अन्धत्व का आख्यानश कहते हुए इस रचना का युगानुकूल विवेचन करते हैं। वे अपनी आलोचना में तुलनात्मक पद्धति का भी इस्तेमाल करते हैं। 'आखिरी कलाम' की चर्चा के समय 'उदास नस्लें', 'आग का दरिया' और 'झूठा–सच' का भी स्मरण किया है। रचनाओं के अतिरिक्त रचनाकारों का भी तुलनात्मक अध्ययन दृष्टव्य है। दूधनाथ सिंह और विनोदकुमार शुक्ल के विषय में कहते हैं– 'दूधनाथ सिंह कविता को लगभग गद्य में सम्भव बनाते हैं और विनोद गद्य को लगभग कविता में।' इसी क्रम में राजेश जोशी अपने समय से प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह की आलोचना की सीमाओं पर भी प्रकाश डालते हैं। वे कहते हैं कि– 'नामवर सिंह की आलोचना को हर वक्त एक बनाम, वर्सेस की जरूरत होती है। इस बनाम को कभी खलनायक गया है और कभी शत्रु।' नामवर जी की किताब 'कविता के नए प्रतिमान' को वे नई कविता का डिफेन्स बताते हैं। इन सब के अतिरिक्त नामवर जी की विद्वता और उनकी आलोचना की उपयोगिता के वे बड़े कायल थे। वे कहते हैं कि– 'उनमें (नामवर जी में) साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक अनुशासनों के साथ रचना के सम्बन्ध को रेखांकित करने का अद्भुत कौशल है।३ वे निरंतर बहस करते हुए आलोचक हैं। उनमें निर्णय देने को कोई हड़बड़ी नहीं है।'

जैसा कि पूर्ण वर्णित है कि राजेश जोशी के आलोचना–कर्म का दायरा मध्यकाल से लेकर इक्कीसवीं सदी तक व्याप्त है। वे विभिन्न काव्यान्दोलनों और कालखंडों के साहित्य का बड़ी बेबाकी किन्तु सहजता से विश्लेषण करते चलते हैं। आचार्य शुक्ल के शब्दों को यदि उधार लेते हुए कहा जाए तो कह सकते हैं कि इस पुस्तक में राजेश जोशी विभिन्न कालखंडों की विभिन्न विधाओं का कोना–कोना झाँक आये हैं। इसी क्रम में छायावाद, प्रगतिवाद, नकेनवाद, अकविता और नई कविता का विवेचन करते चलते हैं। प्रगतिवाद के विषय में वे कहते हैं कि दृष्प्रगतिवाद का कवि घुमक्कड़ तो था पर आवारा नहीं था।ष इसके अलावा नकेनवाद पर बहुत कम चर्चा होने पर उन्हें

शिकायत भी है– 'प्रयोगवाद और नई कविता पर बात करते हुए प्रपद्यवाद या नकेनवाद की धारा को अक्सर अलक्ष्य कर दिया जाता है या चलते–चलते टिप्पणी करके हिन्दी आलोचना उससे किनारा कर लेती है।' राजेश जोशी किसी काव्यान्दोलन पर लगे दोषों का भी निस्तारण करते हैं। जैसे अकविता आंदोलन की पहचान यौनिकता के ही आधार पर करने के पक्ष में नहीं हैं। उनका मानना है कि– 'अकविता को यौन बिम्बों की आक्रामकता और भाषाई अराजकता तक सीमित करके देखना उसका अधूरा पाठ है।' वे नई कविता का भी उल्लेख करते हैं। राजेश जोशी ने नई कविता के बाद कि हिंदी कविता के लिए नया टर्म 'उत्तर नई कविता' प्रयुक्त किया हैय और इसके अंतर्गत पाँच कवियों को सम्मिलित किया है। ध्यान देने वाली बात है कि जिस प्रकार रामविलास शर्मा छायावाद के केंद्र में निराला को और नामवर सिंह नई कविता के केंद्र में मुक्तिबोध को प्रतिष्ठित करते हैं, उसी प्रकार राजेश जोशी 'उत्तर नई कविता' के केंद्र में एक नहीं पाँच–पाँच कवियों– रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, श्रीकान्त वर्मा, कुँवर नारायण और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना– को प्रतिष्ठित करते हैं। यह ओर तो यह उनकी मौलिकता और महत्त्वपूर्ण स्थापना है तो दूसरी ओर उनकी मोनोपोली नहीं बल्कि लोकतांत्रिक सोच का प्रतिफलन है। साफगोई, सधी हुई सहज–सरल काव्यात्मकता भाषा और पूर्व नियोजित सुचिंतित विचारों से लैस राजेश जोशी की कृति श्एक कवि की दूसरी नोटबुक (समकालीनता और साहित्य) अपने समय के जानने, समझने और आत्मसात करने के लिए दृष्टि प्रदान करती है और आलोचना–जगत में धीरे–से अपना स्थान बना लेती है।

संदर्भ–सूची :–

1. जोशी, राजेश.(2018). कविता का शहर रू एक कवि की नोटबुक. नई दिल्ली राजकमल प्रकाशन।
2. जोशी, राजेश.(2015). एक कवि की दूसरी नोटबुक रू समकालीनता और साहित्य. नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।
3. मेहेर, छबिल कुमार.(सं.).(2018). राजेश जोशी संचयिता. पंचकूला, आधार प्रकाशन।
4. जोशी, राजेश.(2014). किस्सा कोताह. नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।
5. श्रीवास्तव, परमानन्द.(2015). कविता का अर्थात. नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन
6. देशमुख, वर्षा.(2017). राजेश जोशी का काव्य रू संवेदना और शिल्प. कानपुर, विद्या प्रकाशन।
7. विश्वास, विनय.(2019). आज की कविता. नई दिल्ली रू राजकमल प्रकाशन।
8. जोशी, राजेश.(2020). वह हँसी बहुत कुछ कहती थी. दिल्ली रू सेतु प्रकाशन।
9. जोशी, राजेश.(2017). प्रतिनिधि कविताएँ. नई दिल्ली रू राजकमल प्रकाशनं
10. शर्मा, रामकिशोर और मानव, विश्वम्भर.(2019). आधुनिक कवि. प्रयागराज : लोकभारती प्रकाशन।

मध्य भारत का आदिवासी-उत्थान और सरकारी प्रयास

अरूण कुमार वर्मा*

शोध सारांश :– आदिवासी वह मानव समूह है, जो समाज के मुख्य धारा से अपने आपको अलग रखे हुए है और एक अलग निश्चित भू–भाग में निवास कर रहे है। जिनका अपना अलग ही रहन–सहन, संस्कृति एवं भाषा है। वे अपने ही समुदाय में विवाह करते है तथा अधिकांशतः प्रकृति पूजक होते हैं। **(नदीम हसनैन, 2001)** वैसे तो अनेको पश्चिमी और भारतीय विद्वानों द्वारा आदिवासी शब्द को अपने–अपने तरीकों से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है लेकिन उनमें आदिवासी शब्द की उपर्युक्त परिभाषा डॉ. डी. एन. मजुमदार द्वारा दिया गया समझ पड़ता है। उनके शब्दों मे "आदिवासी, परिवारों तथा पारिवारिक वर्गों का एक ऐसा समूह है, जो एक निश्चित भू–भाग पर निवास करते हैं और एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते है, तथा विवाह और व्यवसाय के विषय मे कुछ निषेधाज्ञा का पालन करते है। जिन्होंने विनमय से संबंधी पारस्परिक व्यवहार के आधार पर एक निश्चित व्यवसाय का विकास कर लिया है। ये सामान्यतः अंतर्विवाह के सिद्धांतो का समर्थन करते हैं तथा उनके सभी सदस्य अपनी ही जनजाति के अंतर्गत विवाह करते है।"**(मजूमदार, 1963)**

"अनेकता मे एकता" भारतीय संस्कृति की पहचान है और इसका मूल निश्चित रूप से भारत के विभिन्न भागों में निवास करने वाले जनजाति समुदाय हैं जो अलग–अलग क्षेत्रों मे रहते हुए अपनी संस्कृति के जरिए भारतीय संस्कृति को एक अलग पहचान दिए हुये हैं। जो वर्तमान भारत में उत्तर से लेकर दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक जनजातियों की विविध संस्कृति के रुप में देखने को मिलता है। गुरूदेव के नाम से प्रसिद्ध रवींद्रनाथ टैगोर ने भारत को महामानव रूपी समुद्र कहा था जिसके तरल तरंग आदिवासी बंधु कहे जा सकते हैं। जो देश के विभिन्न भागों में आदिवासी समूह के रूप में निवास करते हैं लेकिन मध्य भारत मे स्थित घने जंगलों में निवास करने वाले आदिवासी समूह अपनी जीवन पद्धति तथा कला और संस्कृति की दृष्टि से विशेष रुप से अपनी अलग पहचान बनाए हुए हैं। इसके साथ ही आदिवासी अस्मिता वर्तमान शोध–आलेख का केंद्र बिंदु भी है। प्रस्तुत शोध आलेख में मध्य भारत मे आदिवासी अस्मिता तथा उत्थान के लिए सरकारी प्रयासों का विश्लेषण प्राथमिक और द्वितीयक स्रोतो से प्राप्त दस्तावेजो के आधार पर पूर्ण किया गया है।

मुख्य शब्द :– जनजातीय समुदाय, आदिवासी अस्मिता, परम्परागत सामाजिक संरचना।

औपनिवेशिक काल से ही आदिवासी समुदायों पर विदेशी शासन द्वारा प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा था। जिससे आदिवासी क्षेत्रों मे बाहरी लोगों और औपनिवेशिक सत्ता की घुसपैठ से उनका सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन प्रभावित हो रहा था। यद्यपि ब्रिटिश शासन–प्रशासन के लिए मध्य भारत का पहाड़ी क्षेत्र प्रथम भारतीय संग्राम 1857 के पूर्व उपयोगी नहीं लग रहा था। लेकिन आगे चलकर इस क्षेत्र की उपयोगिता उनको समझ में आयी जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने प्राकृतिक संसाधनों का दोहन शुरू किया। इसी कारण से प्रवासियों

---

* **शोध छात्र, इतिहास विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक।**

अथवा अन्य क्षेत्रों से आने वाले लोगों के प्रति आदिवासियों का व्यवहार हिंसात्मक हो गया था। इस तरह की घटनाओं के कारण ही आजादी से पूर्व ब्रिटिश शासन द्वारा इन्हें क्रिमिनल ट्राइब एक्ट 1871 के अंतर्गत कुछ आदिवासी समुदायों को क्रिमिनल जनजाति का दर्जा दे दिया गया। उनके बच्चों के 6 वर्ष के हो जाने के पश्चात उन्हे उनके माता–पिता से दूर कर दिया जाता था। आजादी के पश्चात भारत सरकार द्वारा क्रिमिनल जनजाति के दर्जा को परिवर्तित करके गैर–अधिसूचित जनजाति कर दिया गया **(तलवार, 2008)** ।

वास्तविकता यह है कि वैश्वीकरण के दौर में बढ़ते हुए नगरीकरण ने आदिवासी समुदाय और उनकी संस्कृति के संरक्षण की समस्या उत्पन्न कर दी है। वैश्वीकरण के प्रभाव ने आदिवासी समाज के समक्ष सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक और उनकी मूलभूत आवश्यकताओं से संबंधित समस्याओं को जन्म दिया है। आदिवासी समाज वर्तमान में लगभग पूरी तरह से सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक रूप से उपेक्षित है, जिस कारण उनका समुचित विकास नहीं हो पा रहा है। प्रसिद्ध हिंदी साहित्यकार रणेन्द्र ने अपने उपन्यास "ग्लोबल गांव के देवता" में बहुत ही बारीकी से आदिवासी समाज की समस्याओं का जिक्र किया है, जिसमें आदिवासी शिक्षा, स्वास्थ्य तथा मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित है **(रणेन्द्र, 2009)**। रणेन्द्र के अनुसार यह ऐतिहासिक तथ्य है कि भारत से अंग्रेजों को भगाने के लिए खासी जनजाति द्वारा 1765 में अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह किया गया। तिलका मांझी द्वारा 1824 में अंग्रेजों के विरुद्ध सशक्त विद्रोह उस समय किया गया जब उन्होंने ब्रिटिश कमिश्नर क्लीवलैंड को तीर से मार गिराया था। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम से पूर्व 1855 में सिद्धू और कान्हू के नेतृत्व में संथाल विद्रोह हुआ तथा 1899 में बिरसा मुंडा के नेतृत्व में मुंडा विद्रोह हुआ, जो अंग्रेजों के विरुद्ध आदिवासियों के संघर्ष का गौरव गाथा है। लेकिन भारतीय इतिहास में आदिवासी संघर्षों तथा स्वाधीनता आंदोलन में जनजातियों के योगदान की उपेक्षा करते हुए 1857 के विद्रोह को भारतीय इतिहास के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की संज्ञा दे दी जाती है। लेकिन यह अत्यंत दुःख की बात है कि जिस आदिवासी समाज ने अंग्रेजों को भारत से खदेड़ने के लिए संघर्ष किया, आजादी के बाद विकास के नाम पर उन्हें उनके पारंपरिक निवास क्षेत्र जंगलों तथा पहाडी क्षेत्रों से विस्थापित करना प्रारंभ कर दिया गया।

आज के समय मे इन आदिवासी समूहो को विकास की दृष्टि से पिछड़ा हुआ माना जाता है। भारतीय समाज के अन्य वर्गों के सदस्यों द्वारा भी जनजातियों की दयनीय हालत में किसी भी प्रकार के सुधार करने के प्रयास नही किये गये। यद्यपि भारत सरकार तथा विभिन्न समाजसेवी संस्थाओं द्वारा आदिवासियों के उत्थान और विकास के लिए निरंतर प्रयास किए जा रहे हैं जिससे कि उन्हें मुख्यधारा में लाया जा सके। लेकिन आधुनिकता के युग में भौतिक संसाधनो के चरम विकास तथा वैश्वीकरण के दौर में भी प्रकृति के प्रांगण में रहना और कृत्रिमता से अलग होकर सहज ढंग से अपना जीवन यापन करना ही इन आदिवासियों की एक अलग पहचान है जिनकी सरल जीवन शैली तथा अनूठी संस्कृति ने समग्र भारत को गौरवपूर्ण आयाम दिया है।

डॉ ए. आर. एन. श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक **जनजातीय भारत** में आदिवासी समूहों को भौगोलिक आधार पर मुख्यतः चार क्षेत्रों मे विभक्त किया है जिसमें मध्य भारत में पश्चिम बंगाल, झारखण्ड, मध्य प्रदेश तथा छत्तीसगढ़ सम्मिलित है। इस क्षेत्र मे निवास करने वाली प्रमुख जनजातियाँ गोंड, संथाल, उरांव, सावर, बैगा आदि हैं **(श्रीवास्तव, 2007)**। जिसमे सबसे प्रमुख

जनजाति गोंड तथा अन्य आदिवासी समूहों द्वारा अपनी संस्कृति और पहचान को लेकर विशेष संघर्ष नही किया गया। प्रारंभिक काल से ही यह क्षेत्र प्रायः शांतिप्रिय माना गया है। वह क्या कारण था कि आदिवासी समाज अपनी विशेष पहचान को लेकर सचेत न था ? इस संबंध में डॉ वीर भारत तलवार कहते है कि "कुछ लोगों का मानना है कि इस निष्क्रियता के पीछे का कारण यह रहा कि राजनीतिक और आर्थिक समूह से घिरे होने के कारण तथा उनके दबाव से आदिवासी समाज अपनी संस्कृति, भाषा, धर्म को छोड़ने के लिए मजबूर हुआ। इन सबके पश्चात भी आदिवासियों द्वारा कोई विशेष प्रतिरोध होता नहीं दिखाई देता। सबसे बड़ी विडंबना यह है कि स्कूलों और कालेजों में पढ़ने वाले आदिवासी छात्र और छात्राएँ अपनी विशिष्ट पहचान के प्रति किसी भी प्रकार से प्रतिबद्ध नही दिखाई पड़ते। यहां तक कि पढ़े–लिखे आदिवासी युवक और युवतियां अपने आपको आदिवासी होने पर शर्म सी महसूस करते है। जिन विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों मे आदिवासी भाषा विभाग है वहां भी आदिवासी छात्र–छात्राएं अपनी भाषा बोलने पर शर्म महसूस करते हैं और अपनी मातृभाषा के प्रति किसी प्रकार की दिलचस्पी नही रखते हैं" **(तलवार, 2008)**।

इस आदिवासी समाज को भारतीय संविधान में अनुसूचित जनजाति का संवैधानिक दर्जा तो प्रदान कर दिया गया है किंतु भारतीय संविधान जनजाति शब्द को स्पष्ट रुप से परिभाषित नही करता है बल्कि केवल उनकी सूचियों तथा अनुसूचियों का उल्लेख करता है। आदिवासियों अथवा आदिवासी जनजातियों को कुछ अन्य नामो से भी जाना जाता है जैसे दृ, जनजाति, वनवासी, आदिमजाति, असभ्य जाति, निरक्षर, गिरिजन, वन्य जाति आदि। भारतीय जनजातियों का मूल स्रोत देश के सम्पूर्ण भू – भाग में फैले हुए प्रोटो–आस्ट्रोलायड तथा मंगोलायड जैसे आदिम प्रजाति समूह को माना जाता है। शारीरिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्तर पर इनमें अनेको समानतायें हैं। एक अन्य आदिम समूह नेग्रेटो प्रजाति का है जिसके वंशज आज भी अंडमान निकोबर द्वीप समूह मे निवास कर रहे हैं।

आदिवासी समुदाय जिस तरह के क्षेत्रो मे निवास कर रहे हैं, वह क्षेत्र बुनियादी सुविधाओं की पहुंच से दूर है, जिसके कारण उनको विभिन्न प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था। आजादी के 73वर्ष बाद भी आदिवासी समाज उपेक्षित, शोषित, अशिक्षित है। देश मे बौद्धिक, वैज्ञानिक और तकनीकी विकास होने के बावजूद भी आदिवासी समाज आज भी सामाजिक विकास की मुख्य धारा से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ नहीं पाया है। विकास के नाम पर सरकारों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण पहाड़ी और जंगली क्षेत्रों का दोहन किया जा रहा है। जंगलों के काटे जाने से आदिवासी समुदाय को अपने जीवन में रोजी–रोटी जैसी रोजमर्रा की अनेकों समस्याओ का सामना करना पड़ रहा है, जिस कारण उनका जीवन संघर्ष पूर्ण बना हुआ है। आदिवासियो के पारंपरिक निवास क्षेत्र बहुमूल्य प्राकृतिक संपदा से परिपूर्ण होते हैं फिर भी यह समाज गरीबी और ऋण ग्रस्तता के कारण आर्थिक रूप से पिछड़ा हुआ है। क्योंकि प्राकृतिक संपदा पर शासन प्रशासन का नियंत्रण होने के कारण उस बहुमूल्य संपदा का आदिवासी समुदाय उपभोग नहीं कर पाते है। जिसके परिणामस्वरूप ये लोग जीविकोपार्जन के लिए एक जगह से दूसरी जगह को पलायन करते रहते हैं। इस आर्थिक तंगी के कारण ही आदिवासी समाज के लोग अपने बच्चों को शिक्षा नहीं दिला पाते है।

भारतीय संविधान में आदिवासियों के उत्थान और विकास के लिए अनुसूची 5 में अनुसूचित क्षेत्र तथा अनुसूचित जनजातियों के प्रशासन व नियंत्रण का प्रावधान है। वहीं अनुसूची 6 में भारत के

पूर्वोत्तर राज्य असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम में जनजाति क्षेत्रों के प्रशासन का उपबंध किया गया है। इसके साथ ही अनुच्छेद 17 मे समाज मे किसी भी तरह की अस्पृश्यता का निषेध है, तो वहीं नीति निर्देशक तत्व के अंतर्गत अनुच्छेद 46 के अंतर्गत राज्य को यह आदेश है कि वह अनुसूचित जातियों, जनजातियों और अन्य दुर्बल वर्गों की शिक्षा तथा उनके आर्थिक हितो की रक्षा करें। अनुसूचित जनजातियों की स्थिति मे सुधार को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए 2003 में 89वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम द्वारा एक अलग राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग की स्थापना की गई। इसके साथ ही उनके राजनीतिक हितों की रक्षा के लिए उनकी संख्या के अनुपात मे राज्यों की विधानसभा तथा पंचायत मे स्थान आरक्षित कर दिए गए हैं।

सरकार द्वारा जनजातियों के हितो को अपने स्तर से भी देखा जा रहा है, जिसमें विभिन्न सरकारी सहायता अनुदान, सामुदायिक विकास कार्यक्रम, आदिवासी विकासखंड, अनाज बैंकों की सुविधा, सरकारी नौकरियों में उचित प्रतिनिधित्व, उचित शिक्षा व्यवस्था, अनुसूचित जनजातियों के छात्रों के लिए एकलव्य आदर्श आवासीय विद्यालय योजना की शुरुआत की गई है। इन योजनाओं का उददेश्य दूरदराज क्षेत्र मे रहने वाले विद्यार्थियों को माध्यमिक और उच्च शिक्षा प्रदान करना, आर्थिक उन्नति हेतु प्रयास तथा सांस्कृतिक सुरक्षा प्रदान करना है। इसके साथ ही राज्य और केंद्र सरकार द्वारा आदिवासियों के उत्थान के लिए अलग–अलग विभागों की स्थापना की गई है, जिसमें उदाहरण के तौर पर जनजाति सलाहकार परिषद एक अच्छा उदाहरण है। इसके अतिरिक्त सरकारी नौकरियों में प्रतिनिधित्व के लिए उन्हें आयु और योग्यता संबंधी कुछ छूट भी प्रदान की गई है। यह सरकारी प्रयासों का ही परिणाम रहा है कि जहाँ 1961 की जनगणना में पिछड़े हुए राज्य झारखण्ड मे आदिवासियों की साक्षरता दर 10.4 प्रतिशत थी वहीं आज 2011 की जनगणना के अनुसार उन की साक्षरता दर बढ़कर लगभग 66.41 प्रतिशत तक पहुंच गई है **(जनगणना, 2011)**। सरकार के इन प्रयासों के पश्चात भी जनजाति विकास को और अधिक प्रभावशाली बनाने का आवश्यक्ता है, क्योंकि जनजातियों का एक बहुत बड़ा तबका अभी भी समाज की मुख्यधारा मे आने से वंचित है। इस हालातों मे इनका उचित विकास व संरक्षण और अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है।

यद्यपि सरकार द्वारा अपने स्तर से आदिवासियों की स्थिति मे सुधार के लिए अनेकों प्रयास किए जा रहे हैं, किंतु आवश्यकता है कि सरकारी योजनाओं तथा अन्य संबंधित कार्यों के क्रियान्यवन में और अधिक तेजी लायी जाये। सरकार द्वारा आदिवासियों के लिए जो भी योजनाएं चलाई जा रही है, उसे उनके मध्य तक पहुंचाया जाये। इसके लिए सबसे अधिक आवश्यकता है कि आदिवासियों के प्रति शासन–प्रशासन और समाज की उदासीनता को यथासंभव दूर किया जाये। समाज के अन्य सभी वर्गों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह अपने हितों के साथ–साथ आदिवासी हितों का भी पर्याप्त ध्यान रखें। लोकतंत्र का चौथा स्तंभ कहे जाने वाले मीडिया को भी आदिवासी समाज की स्थिति मे सुधार के प्रति सजग होना चाहिए। प्रायः यह देखा जाता है कि जब तक आदिवासियों से संबंधित कोई बड़ी दुर्घटना नही घट जाती तब तक शासन–प्रशासन और मीडिया का ध्यान उस ओर नही जाता है। फिर भी राज्यसभा टीवी चैनल द्वारा चलाए जाने वाले कार्यक्रम "मैं भी भारत" मे आदिवासी जीवनचर्या पर आधारित कार्यक्रम में आदिवासी समाज की पहचान को मुखर करने का प्रयास किया जा रहा है। उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार के लिए आवश्यक है कि आदिवासी परिवारों को कृषि के लिए पर्याप्त भूमि दी जाये और उन्हें कृषि संबंधी उच्च तकनीकी का ज्ञान

कराया जाये तथा उनके प्रवासन को यथासंभव रोका जाये। जिसके लिए आवश्यक है कि आदिवासियों को शिक्षित और प्रशिक्षित किया जाये तथा उन्हें कानूनी अधिकारों से परिचित कराया जाए। शिक्षा के दौरान इस बात का विशेष ध्यान दिया जाये कि उनको व्यवसायिक प्रशिक्षण भी मिलता रहे, जिसकी पहल महात्मा गाँधी जी द्वारा आजादी से पूर्व पारंपरिक शिक्षा व्यवस्था में की गयी थी, जिसमें विशेष रूप से कुटीर उद्योगों जैसें, पशुपालन, मछली पालन, मधुमक्खी पालन और हस्तकला आदि का प्रशिक्षण सम्मिलित था जिससे जनजातियों को बेगारी तथा बेरोजगारी जैसी समस्या का सामना न करना पड़े। उनकी संस्कृति को संरक्षित करने के लिए जनजातीय भाषा और संस्कृति में ही मनोरंजनात्मक कार्यक्रम कराये जाये और उन कार्यक्रमों में उनको प्रतिभागी बनाया जाए, जिससे वे अपनी भाषा और संस्कृति को संरक्षित करके अपनी अस्मिता को बनाए रख सके।

संदर्भ सूची :–

1. हसनैन, नदीम, जनजातीय भारत, जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2001
2. मजूमदार, डी. एन., रेसेज एंड कल्चर्स ऑफ इंडिया, 1963
3. तलवार, वीर भारत : झारखण्ड के आदिवासियों के बीच, भारतीय ज्ञानपीठ, 2008
4. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 2009
5. श्रीवास्तव, ए. आर. एन., जनजातीय भारत, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 2007
6. तलवार, वीर भारत : झारखण्ड के आदिवासियों के बीच, भारतीय ज्ञानपीठ, 2008
7. भारतीय जनगणना 2011.

पाश्चात्य आधुनिकता के मानवीय-सूत्र
(दाँते से लेकर कार्ल मार्क्स तक)

डॉ. सुनील कुमार मानस*

भारतीय पुनर्जागरण एवं उसके आधुनिक सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिवर्तन को समझने के लिए पाश्चात्य पुनर्जागरण एवं उसके आधुनिक अवधारणा के मानवीय चिंतन एवं उसके विकासक्रम को समझना आवश्यक है।

यूरोप के पुनर्जागरण, जिसे यूरोप का नवजागरण भी कहते हैं – से ही आधुनिकता की शुरूआत होती है। यह शब्द यूरोप के मध्य और आधुनिक युग के बीच की संक्रान्ति अवस्था का द्योतक भी है। यह एक ऐसा दौर है जब पश्चिमी यूरोप मध्ययुगीन–संस्कारों के बन्धनों से मुक्त होकर वैयक्तिक चेतना की ओर बढ़ने लगा था, जिसकी पहल व्यक्ति–स्वातन्त्र्य के रुप में ही हुई थी और चर्च का महत्व घटा था, परलोक की जगह इहलोक की प्रतिष्ठा होने लगी थी, ऐहिक मूल्यों की महत्ता बढ़ी, और धर्म की जगह दर्शन को प्रश्रय मिला था। ऐसे में धर्मनिरपेक्ष–मानवीयता का मार्ग प्रशस्त होना स्वाभाविक ही था।

पुनर्जागरण के संबंध में टॉमस जॉनसन विचार व्यक्त करते हुए लिखतें हैं कि– *''पुनर्जागरण शब्द का अर्थ इटली के उन सांस्कृतिक परिवर्तनों से है जो चौदहवीं शताब्दी से आरम्भ होकर 1600 ई0 तक सम्पूर्ण यूरोप में फैल जाती है।''*[1] यह वास्तव में उन सब महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक एवं बौद्धिक परिवर्तनों का सामूहिक संकेत है, जो चौदहवी सदी से प्रारम्भ होकर सत्रहवीं सदी तक प्रायः सारे यूरोप में अपना वर्चस्व कायम करती है, और एक नये वैचारिक चिंतन का मार्ग प्रशस्त भी। लेकिन यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है बल्कि इसके पहले कैरोलिंगियन सम्राट चार्ल्स द्वारा किए गए महत्वपूर्ण आन्दोलन व अलबिजेनसियन आन्दोलन– ऐसे आन्दोलन हैं, जो आत्मनिर्भरता, धर्मनिरपेक्षता एवं व्यक्तिक स्वातन्त्र्य से युक्त थे, जिन्हें चर्च के पादरियों द्वारा क्रूरतापूर्वक दबाया भी गया था, लेकिन पुनः सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय (1212ई0–1250ई0) ने धार्मिक संकीर्णता का विरोध किया और मानसिक स्वतन्त्रता तथा आत्मनिर्भरता का समर्थन करके बौद्धिक चेतना की फिर एक नई शुरूआत की। इनके ही संरक्षण में बौद्धिक एवं साहित्यिक वातावरण का सृजन सिसली में हुआ, जिसका पुनर्जागरण के दौर में अनेक इटालियन शासकों द्वारा अनुसरण किया गया।

इटली का महान कवि दॉते (1260ई0–1331ई0), जो पुनर्जागरण का अग्रदूत माना जाता है, जिसने – *लौकिक शक्ति को धारण करना चर्च की प्रकृति के विरुद्ध है* – कहा, जिसने – *चर्च का राज्य इस संसार में नहीं है* – की घोषणा की, जिसने – *धर्मनिरपेक्ष राजनीति में पोप की आध्यात्मिक शक्ति का कोई स्थान नहीं है* – स्वीकार किया, जिसने विश्वास दिलाया कि – *नैतिकता की प्राप्ति का एकमात्र स्रोत धर्म ही नहीं है, धर्म से स्वतन्त्र रहकर भी नैतिक होकर रहा जा सकता है* – ने सच्चे अर्थों में एक वैचारिक एवं तार्किक मानवीय चिंतन की पृष्ठभूमि तैयार की, जिसका विस्तार फ्रॉंसस्को पेत्रॉक (1304ई0–1374ई0) ने बौद्धिक रुप से मानवता का पक्ष लेकर किया। यह भी माना

*** प्रधान–संपादक–आलोचन दृष्टि, एवं प्राध्यापक– हिन्दी, बहाउद्दीन आर्ट्स कालेज, जूनागढ़ (गुजरात)**

जाता है कि *"पेत्रॉक इटालियन पुनर्जागरण के मानववादी पक्ष का प्रथम एवं सर्व–प्रतिनिधि था।*[2] इनके कई मानववादी शिष्यों ने मानववाद का प्रचार किया। कुलमिलाकर *"जर्मन और अन्य उत्तरी मानववादियों की साहित्यिक और बौद्धिक अभिरुचि ने बाद के धर्म–सुधार आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार की।"*[3] केसा का कार्डिनल निकोलस, डेमेन्टर के हैजियस, बेसेल, एग्रिकोला, विफेलिंग, टिथेमियस, जोहान्स एलिपिड और रिजियोमोनटेनस आदि ने हिंडलबर्ग, बेसल, नूरेमबर्ग, स्ट्रेसबर्ग, अरफर्ट तथा वियना में मानववाद का प्रचार किया, जिसके फलस्वरुप *"जर्मन मानववाद का एक विशिष्ट स्वरुप विकसित हुआ, जो आगे चलकर धर्म–सुधार आन्दोलन का एक प्रमुख कारण सिद्ध हुआ।"*[4]

मानववादी आन्दोलन के दौर में पुस्तकालयों की स्थापना हुई जिसमें शिक्षा के क्षेत्र में तमाम क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, जिसका परिणाम बौद्धिक चिंतन एवं चेतना के विस्तार के रुप में हुआ और धर्म, राजनीति, साहित्य, कला, विज्ञान, आविष्कार एवं उद्योग के क्षेत्र में प्रगति हुई। सच्चे अर्थों में पुनर्जागरण के फलस्वरुप ही मानव–जाति ने आधुनिक युग में प्रवेश किया।

पुनर्जागरण आन्दोलन के पश्चात् सामाजिक चिंतन के इतिहास को नवीन स्वरुप देने का श्रेय धर्म–सुधार आन्दोलन को जाता है। इस आन्दोलन का प्रवर्तक जर्मन भिक्षु मार्टिन लूथर (1483–1546) था। लूथर का शिष्य फिलिप मेलॉकथॉ (1447–1560), लूथर के समकालीन स्विट्जरलैण्ड के अलरिच ज्विंगली (1484–1531), फ्रान्स के जॉन काल्विन (1509–1564) एवं स्काटलैण्ड के जॉन नॉम्स आदि ने धर्म–सुधार का महत्वपूर्ण कार्य किया, भले ही प्रारम्भ में धर्मशास्त्रों पर बल देने की प्रवृत्ति रही हो, लेकिन बाद के वर्षों में यह लोकतंत्र की समर्थक एवं निरंकुश राजसत्ता के विद्रोह के रुप में भी विकसित हुई। तमाम सामाजिक समझौतों के बाद भी इसने जनता की प्रभुसत्ता एवं प्रतिनिधि शासन के विचार को ही प्रश्रय दिया।

धर्म–सुधार आन्दोलन के तदुपरान्त पाश्चात राजतंत्र प्रणाली में बदलाव होने के साथ लोकतंत्र की शासकीय प्रणाली का उदय भी होने लगता है। मैकियावली ने अपने ग्रन्थ The Prince में राजतंत्र एवं राजदर्शन की नवीन अवधारणाओं को प्रश्रय दिया। जीन बोदॉ का विचार था कि *राज्य को धार्मिक विवादों से अलग रखने पर ही समाज का कल्याण और समाज में शान्ति तथा व्यवस्था संभव है।* हाब्स ने वैज्ञानिक पद्धति को ही सामाजिक महत्ता के लिए आवश्यक माना। जॉन लॉक ने अध्यापक में पाण्डित्य की अपेक्षा बुद्धि की महत्ता स्वीकार की। जिनेवा के दार्शनिक जीन जेक्स रुसो ने उद्घोषणा की कि *"समानता के अभाव में स्वतंत्रता नहीं रह सकती।"*[5] माण्टेस्क्यू ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर अधिक बल दिया। वाल्टेयर (1694–1778) ने अन्याय और कट्टरपन के मुखालफत नारा देते हुए कहा–*"इन बदनाम चीजों को नष्ट कर डालों।"* ब्रिटिश दार्शनिक जेरेमी बेन्थम का मानना था कि व्यक्तिगत एवं आर्थिक स्वतन्त्रता के महत्त्व को प्रतिपादित करना चाहिए और चर्च व राज्य का भी अलगाव होना चाहिए। इसके अतिरिक्त पहली बार इन्होंने महिला अधिकारों की वकालत करते हुए कहा कि– *महिलाओं के लिए तलाक का अधिकार –समान अधिकार है।* इनके उपयोगितावादी सिद्धान्त को जेम्स मिल ने मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया, आगे उनके बेटे जॉन स्टुअर्ट मिल (1806–1873) ने उपयोगितावाद सिद्धान्त की जगह व्यक्तिवादी सिद्धान्त को अधिक तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक माना। इस दौर में सबसे महत्त्वपूर्ण विचार फ्रान्स की क्रान्ति के दौरान सामने

आया जो 'स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व का था। इस सिद्धान्त ने दुनिया के इतिहास में पहली बार एक बड़े स्तर से मानवीयता की नई शुरूआत की।

इसी दौर में आदर्शवाद का सिद्धान्त भी राजतन्त्र एवं लोकतन्त्र की एक नयी व्याख्या करते हुए वैचारिक चिंतन के केन्द्र में आया। जिसके जन्मदाता इमेनुअल काण्ट (1724—1804) हैं। जर्मन का दार्शनिक हीगल का द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त, टॉमस हिल ग्रीन (1836—1882) का 'स्वतंत्र नैतिक इच्छा का सिद्धान्त' और बर्नार्ड बोसाके (1848—1933) का इच्छा—सिद्धान्त — इस विचारधारा के सिद्धान्त की वैचारिक पहल एवं विकास का रूपांतरण करते हैं।

आदर्शवादी सिद्धान्त के जन्म के कुछ बाद ही जहाँ आगस्ट काम्टे (1798—1857) का प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त, हर्बर्ट स्पेंसर (1820—1903) का विकासवादी सिद्धान्त वैचारिक चिन्तन के केन्द्र में आया वहीं थामस हेनरी हक्सले (1825—1892) के प्राकृतिक विज्ञान के सिद्धान्त को वैज्ञानिक समर्थन प्राप्त हुआ और आगे चलकर कार्ल मार्क्स (1818—1889) ने हीगल और हक्सले के सिद्धान्त का विस्तार 'वैज्ञानिक समाजवाद' के आधार पर किया, जो पूरी दुनिया के वैचारिक चिंतन का मुख्य आधार बना।

इस तरह हम देखते हैं कि दाँते के सिद्धान्त से लेकर कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त तक लगातार पश्चिम में मानवीय सापेक्ष वैचारिक चिंतन का उद्‌भव और विकास हुआ, जिसके केन्द्र में मनुष्य था या फिर उसकी मानवीयता।

संदर्भ—सूची :—

1. पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास, डॉ0 प्रभुदत्त शर्मा, कालेज बुक डिपो, जयपुर — संस्करण 2011, पृ0—248।
2. वही, पृ0—251।
3. वही, पृ0—252।
4. वहीं।
5. वही,, पृ0—358।

संदर्भ—ग्रंथ—सची :—

1. श्रृंखला की कड़िया — महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2008।
2. भारतीय सामाजिक चिंतन — डॉ0 बी0 एन0 सिंह, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2010।
3. आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन — डॉ0 ओमेश्वर अवस्थी, डॉ0 रामकुमार अवस्थी, रिसर्च पब्लिकेशन, नई दिल्ली, संस्करण 1997।
4. आजादी की महिलाएँ (श्रृंखला—1), संपादक — डॉ0 रेणु दिवान, एजुकेशनल बुक सर्विस, नई दिल्ली, संस्करण— 2010।
5. आधुनिक भारतीय नवजागरण — डॉ0 शैलेन्द्र प्रसाद पांथरी, मिश्रा ट्रेडिंग कारपोरेशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1992—93।
6. महिला अधिकार और कानून — अविनाश माहेश्वरी, प्रिज्म बुक्स (इण्डिया), जयपुर, प्रथम संस्करण 2011।

उषा किरण खान की कहानियाँ : एक मूल्यांकन

मयंक*

हिंदी साहित्य में कहानी की शुरूआत भारतेंदु युग से मानी जाती है। इन कहानियों में घटनात्मकता और चमत्कारिता प्रधान रूप में अवस्थित थीं। प्रेमचंद के आगमन से कहानियाँ यथार्थ से जुड़ना शुरू होती हैं। प्रेमचंद की कहानियों में आम जीवन, ग्रामीण परिवेश, उसके अपने मूल्य और संवेदनाएं निहित थीं। कहना ना होगा कि कहानियों में ग्रामीण सभ्यता और संस्कृति केंद में थीं। प्रेमचंद का पूरा साहित्य ग्रामीण सभ्यता का इतिहास है। प्रेमचंद के बाद ग्रामीण मूल्यों एवं संस्कारों को नयी पहचान दिलाने में कई और नाम जुड़ते हैं। इनमें फणीश्वर नाथ रेणु, नागार्जुन, शिवप्रसाद सिंह, भैरवप्रसाद गुप्त, मार्कंडेय, रामदरश मिश्र, विवेकी राय, मिथिलेश्वर और मणि मधुकर आदि प्रमुख हैं। इसी क्रम में उषाकिरण खान का नाम भी उल्लेख्य है। किन्तु उषाकिरण खान की कहानियों की धारा प्रेमचंद, नागार्जुन और रेणु के कथा–सरित की धारा से मिलती हुई "नदी के द्वीप" की तरह विशिष्ट स्थान रखती है। मिथिला के ग्रामीण अंचल की कहानियाँ होते हुए भी इनकी कहानी सबसे अलग है। ग्रामीण परम्परा की वाहिका पद्मश्री उषाकिरण खान की कहानियों में सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण पक्ष हैं– इनकी कहानियों के पात्र। इनकी अधिकतर कहानियों में पात्रों की भूमिका आज का सबसे ज्वलंत मुद्दा साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के चक्रव्यूह को तोड़ता हुआ नजर आएगा।

कहानियों में हिन्दू–मुस्लिम दोनों धर्मों के चरित्रों को सरलता एवं सहजता से समन्वय किया गया है। यही खूबी उषाकिरण खान को अन्य कहानीकारों से अलग ठहराती है। शहरी संस्कृति से गाँव की संस्कृति धार्मिक और साम्प्रदायिक धरातल पर आज भी एकजुट और एकीकृत है। मिथिलांचल का क्षेत्र हमेशा से उदारमना और साझा–स्वरुप का प्रतिमान रहा है। इतिहास उठाकर देख लिया जाए तो मिथिलांचल में साम्प्रदायिकता का जहर उसकी साझा–संस्कृति को कभी भी दूषित नहीं कर पाया है। 1989 में भागलपुर में एक साम्प्रदायिक दंगा हुआ था पर उसका असर मिथिला के प्रान्तों पर नहीं पड़ पाया। कहना न होगा कि आज के युग में इनकी कहानियों के पात्र सशक्त रूप में भारत की धर्मनिरपेक्षता को अक्षुण्ण रखते हुए वैविध्य में ऐक्य की प्रज्वल शिखा की तेज को और भी प्रखर बनाते हुए प्रतीत होते हैं। 'अम्माँ, मरे भैया को भेजो री की सावन आया' की डॉ रजिया और डॉ पन्ना, 'मोती बे–आब' में सैयद परवीन हिना और प्रोफेसर अन्विता, 'दूबधान' की केतकी और सबुजनी, 'विवश विक्रमादित्य' की मनोर बुआ और कमली, 'साबुत मूरत' के डॉ विश्वास और हनीफ, 'पत्रकारिता की रस्म' के चंदन, श्रीनाथ और मंसूर– ये सारे पात्र भारत की साम्प्रदायिक निरपेक्षता, अखंडता और संप्रभुता का प्रतिनिधित्व करते हैं।

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उभरता है कि इन कहानियों के हिन्दू–मुस्लिम पात्रों में ऐसा क्या है जो प्रेमचंद, नागार्जुन और रेणु नहीं? सूक्ष्मता से दृष्टिपात करने पर यह मालूम होता है कि ये

*** शोधार्थी, एम.फिल (हिंदी)– महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (2018)।**

चरित्र कहीं भी एक दूसरे के प्रतिस्पर्धा में कम नहीं दिखलाई पड़ते हैं। समानता के सभी स्तरों पर ये एक समान हैं। जहाँ वर्गजन्य सामाजिकता का चित्रण है, वहां कहानीकार हिन्दू होते हुए भी इस्लाम धर्म की इंसानियत, सद्‌भाव और ईमानदारी को केन्द्रीकृत करती नजर आती हैं– 'साबुत मूरत' का हनीफ तथा 'दूबधान' की सबुजनी इसके सशक्त उदाहरण हैं।' विवश विक्रमादित्य' की कमली की खुदकुशी यह गवाही देती है कि उषाकिरण खान के मुस्लिम चरित्र आत्मसम्मान और आबरू पर दाग लगने से पहले जीवन को त्यागना श्रेयस्कर समझती है। इनकी कहानियों को अलग–अलग कोण से देखने की कोशिश करेंगे –

स्त्री विमर्श के आईने में :–

स्त्रीवादी दृष्टिकोण से उषाकिरण खान की कहानियाँ बड़ी संतुलित हैं। एकाध कहानियों को छोड़ दिया जाए तो इनके यहाँ स्त्रियों के चरित्र न तो बुद्धिवाद का अतिक्रमण करती हैं न ही उनमें संवेदनात्मक मूर्खता का अतिरेक है। मुक्तिबोध के शब्दों को लूं तो इनके स्त्री–पात्र संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के दोनों रूपों में समीकृत दिखलाई पड़ते हैं। 'अम्माँ, मरे भैया को भेजो री कि सावन आया' में डॉ रजिया अपने बड़े भाई अजीज की बात न मानकर शादाब से शादी कर लेती है। शादाब 'अंसारी' होता है और रजिया 'शेख', इसलिए पूरा परिवार इस शादी का विरोध करता है। बड़े भाई का गुस्से में आकर यह कहना देखिए– "कहो, मेरी नजरों से दूर चली जाए। नाक कटवा दी हमारी, देखूँगा तो काट डालूँगा।"[1]

शादी के बाद शादाब और रजिया मुम्बई चले जाते हैं। सालों बाद रजिया जब गाँव आती है तो वह यही सोचती है कि– "कहाँ है मेरा अब्बा सरीखा भाई? क्या हुआ उसका? इतना गुस्सा था तो काट डालता मुझे? खुद क्यों कट गया?[2] बार–बार गाँव का सावन याद आता और याद आते ही रजिया के मुँह से इस गीत के बोल सहसा ही फूट पड़ते– "अम्मा मेरे भैया को भेजो री कि सावन आया।"[3] यही रजिया जब सच्चाई से मुखातिब होती है कि उसका भाई आतंकवादी बन चुका है तो वह कसम लेती है– "भाई मिलेंगे तो पूछूंगी– कितनों के सावन को जलाकर राख कर डाला, हरदिल अजीज शेख?कांवरियों को बचने में डूब जाने वाले इशहाक शेख का जाया ![4] स्पष्ट है कि इनके यहाँ स्त्रियाँ अपना पक्ष चुनना जानती हैं और बेबाकी से अन्याय के विरुद्ध सवाल उठाना भी। स्त्रियों का समाज में क्या स्थान है , जो किसी भी कारणवश समाज में अकेली रह जाती हैं? इस तथ्य को स्त्रीवादी लेखिका 'रेखा कस्तवार' कुछ इस प्रकार सामने रखती हैं– "अकेली स्त्रियों का समाज में क्या व्यवस्था है, उसका क्या मूल्य है? यह प्रश्न शाश्वत है। तलाकशुदा, अविवाहिता और विधवा स्त्री प्रश्न–चिह्न हैं।"[5]

इस प्रश्नचिह्न को उषाकिरण खान विलोपित करती हुआ नजर आती हैं। प्रश्नचिह्न को पूर्णविराम में परिवर्तित करते हुए तलाकशुदा स्त्रियों को न तो बेचारगी का चोला पहनाती हैं और न ही दुःख और संत्रास की कोठरी में उन्हें भटकने के लिए छोड़ देती हैं। 'जानकी' कहानी में लेखिका उन सभी विवाह–विच्छेदित स्त्रियों को मुक्तता और स्वतंत्रता के पंख प्रधान करती हैं जो समझती हैं कि तलाक के बाद जीवन की परिभाषा एकाकीपन तक ही सीमित है। जानकी द्वारा कहे गए ये शब्द इसके सशक्त प्रमाण हैं– "लेकिन एक बड़ी अच्छी बात हुई, जब तक जीऊँगी, चूड़ियाँ पहनूंगी, मछली

खाऊँगी। ठहाका–सा लगाया जानकी ने। मतलब, मतलब वैधव्य का घोर मर्मान्तक दंश नहीं सहूँगी।"[6]

उपर्युक्त खुशनुमा क्षण वाले एकालाप में वह उन तमाम स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती है जो समाज में 'अकेली स्त्री' जैसे सवालों से घिरी रहती है। भारत में स्त्री–विमर्श के मूल में मध्यवर्ग की स्त्रियाँ नजर आती हैं। निम्न वर्ग और दबी–कुचली स्त्रियों के लिए स्त्री–विमर्श की संकल्पनाएं और संघर्ष क्या सभी आयामों को छूता हुआ प्रतीत होता है? निम्न श्रेणियों के स्त्रियों का संसार, मध्यवर्गीय जीवन में रचे–बसे स्त्रियों के जीवन से बिलकुल अलग होता है। पितृसत्ता का विरोध और मर्दवादी प्रवृत्ति का स्वरुप यहाँ पूर्णतः अलग होता है। न तो आय इतनी कि उसका बंटवारा किया जाए न ही जीर्ण–संस्कारों का दबाव। दो जून रोटी जुटाने में मर्द–औरत की जद्दोजहद निचले वर्ग की स्त्रियों का यथार्थ रूप है। वहां न तो आर्थिक रूप से स्वावलंबन की चाह है न ही समाज में प्रतिष्ठा पाने की आकांक्षा। हां ! बच्चों का विकास अपने स्तर से बेहतर देने की कामना उन स्त्रियों के मन में जरुर होती है। 'नटयोगी' में रघुनी के बच्चे(बिद्दू–संजू) जब शादी के पार्टी से लौटकर आते हैं। अम्मां उनके लहुलूहान पैरों में तेल–मालिश करती है। उनके पैरों की अवस्था देखकर अम्माँ के ये कथन द्रष्टव्य हैं– "नहीं जाएंगे मेरे बच्चे" उसने निर्णय सुनाया/"ऐसा मत कहो। मन्नन भईया..../अब तुमको हरा–हरा लमडी (सौ का नोट) दिखाई देता है। हम हलाल हो जाने दें?"[7]

आज के अर्थलोलुप समाज में उपर्युक्त कथन यह सन्देश जरूर देता है कि स्त्रियाँ आज भी आत्मसंतुष्टि के स्तर पर पुरुष से कहीं अधिक आगे हैं। नारी का विद्रोही तेवर स्त्री–विमर्श का एक अनिवार्य अंग है। जब तक नारी पुंसवादी मानसिकता से विद्रोह नहीं करेंगी तब तक पितृसत्तात्मक अवस्थिति पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ेगा। विद्रोह एक अनिवार्य क्रिया है। अपनी इज्जत, स्वाभिमान, आत्मसम्मान एवं हक के लिए सामन्ती और पितृसत्ता के खिलाफ विद्रोह एक नैतिक कर्म बन जाता है। उषाकिरण खान की स्त्रियाँ जहाँ प्रेम और संवेदना से आपूरित हैं, वहीं ओज और उर्जा से भरी हुईं। 'पाथर मन' कहानी की कलबतिया इसी रूप की प्रत्यक्ष उदहारण है।

सिरदेव कलबतिया से शादी कर उसे छोड़ कर किसी दूसरे के साथ शादी कर लेता है। कलबतिया मजदूरी कर अपना जीवन जीती है। बाद में वह भी किसी मर्द से शादी कर लेती है।कलबतिया के पति की मृत्यु हो जाती है। कई वर्ष बाद सिरदेव कलबतिया से मिलता है। कहानी आगे बढती है तो पता चलता है कि सिरदेव और उसकी पत्नी (जो मरणासन्न है) तय करते हैं कि सिरदेव कलबतिया से शादी कर ले ताकि मरने के बाद उनके बच्चों को एक साया मिल जाए। कलबतिया विधवा रहती है, उसे भी लगता है कि जीवन को चलाने के लिए एक साथ मिलेगा, परन्तु कलबतिया के पेट में पलने वाले बच्चे की बात जब सिरदेव सुनता है तो उसे समाज की जर्जर व्यवस्था से निर्मित खोखले मूल्यों और पुरुष के छद्म मान–सम्मान का भय सताने लगता है। तदुपरांत कलबतिया के प्रखर स्वर पूरी कहानी की गरिमा को चार–चाँद लगाते हुए नजर आते हैं। "सुनो, मेरे पैर भारी हो गए हैं। तुम मेरा पंचों के सामने हाथ पकड़ लो– एक दिन कलबतिया ने शरमाते हुए कहा, सिरदेव से। क्या? नहीं–नहीं, ऐसा कैसे होगा? मेरा बेटा बड़ा हुआ, बेटी की शादी हुई, लोग क्या कहेंगे? सिरदेव घबरा गया। "कायर ! और मरे साथ ऐसा कर रहे हो, सो लोग क्या कहेंगे जानेंगे तो, मैं गरभ से हूँ और तुम्हारे लिए कुछ नहीं?"[8]

कहानी का उत्कर्ष तब आता है जब कलबतिया, सिरदेव और सोहागी(सिरदेव की बीवी) के बीच उन संवादों को सुन लेती हैं, जहाँ सोहागी सिरदेव को कलबतिया से शादी करने को कहती है और शादी के बाद चालाकी से गर्भपात कराने की सलाह देती है। "सिन्नुर देने के बाद चालाकी से गिरवा देंगे। सोनचिरैया है वह, हाथ से चली जाएगी। रहेगी तो घर लगा देगी"।[9] कहानी का अंत स्त्री–चेतना के उस पक्ष को उभरता है जो हर विमर्श, हर स्थिति–परिस्थिति में प्रासंगिक है– 'अप्प दीपो भव'। इस तरह कलबतिया बच्चे को जन्म देती है और प्रबल नायिका के रूप में उभर कर सम्पूर्ण स्त्री–जाति का प्रतिमान बन उठती है।

वृद्धों की स्थिति का क्रांतिकारी स्वरूप

समकालीन हिंदी कहानियों में वृद्धों की त्रासद स्थिति का जोरदार चित्रण मिलता है। इनके संदर्भ भी कई हैं। यह भी माना गया है कि दीर्घ जीवन अभिशाप है। हिंदी कहानियों के इतिहास से वर्तमान तक का सफर किया जाए तो इस विसंगति पर प्रेमचंद की 'बूढी काकी' से लेकर मनीषा कुलश्रेष्ठ की 'प्रेतकामना' तक तमाम ऐसी कहानियाँ हैं जो वृद्धों की समस्याओं को समाज के सामने उपस्थित करती हैं। वृद्धों की लाचारी, उनकी प्रगाढ़ संवेदनाएं एवं उनपर शोषण का चित्रण इन कहानियों के मूल बिंदु हैं। प्रेमचंद की बूढी काकी में यह दिखलाया गया है कि बूढों का जीवन तृष्णा रोग का अंतिम समय है जब सम्पूर्ण इच्छाएं एक ही केंद्र पर आ लगती हैं। संपत्ति के कारण सिर्फ और सिर्फ वृद्धों को ढोया जाता है। उषा प्रियम्वदा की 'वापसी' वृद्धों की पीड़ा सशक्त ढंग से प्रस्तुत करती है। 35 साल परिवार का पोषण करने वाले, परिवार की हर सुविधा को सम्पन्न करने वाले गजाधर बाबू को रिटायरमेंट के बाद पुत्र, बहु, बेटी, पत्नी सभी परिवार का हिस्सा मानने से इंकार करते हैं। चंद्रकिशोर जायसवाल की 'मनबोध बाबू' दो वृद्ध व्यक्तियों के माध्यम से उनके पारिवारिक–सामाजिक स्थिति का चित्र उकेरा गया है। भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' में माँ एक जीर्ण वस्तु के समान समझी जाती है। वह घर में एक कठपुतली के समान है। मनीषा कुलश्रेष्ठ की 'प्रेतकामना' में वृद्धों का अकेलापन लक्षित है जिसकी पत्नी का असामयिक निधन हो जाता है और उसका बेटा एक ही शहर में रहते हुए हालचाल तक पूछने नहीं आता।

वृद्धों की इन विसंगति पर बाजारवाद का प्रभाव दिखाया जाता है तो कभी पारिवारिक स्वार्थ का। मनुष्यों पर उपभोक्तावादी प्रवृत्ति का असर परिलक्षित होता है तो समाज में वृद्धों के लिए क्या व्यवस्था है, इस पर भी प्रश्न उठाया जाता है। किन्तु कहानियों के केंद्र में वृद्धों की चिंताजनक अवस्था में स्वाभिमान का धीरे–धीरे खत्म हो जाना है। स्वाभिमान का खत्म होना बेचारगी, परावलंबन को जन्म देता है। फलस्वरूप इनकी स्थिति बद से बदतर होती जाती है।

उषाकिरण खान एकमात्र ऐसी कहानीकार हैं जो वृद्ध जीवन को स्वाभिमान, सम्मान और नयी उर्जा के पथ पर प्रशस्त करती हैं। उनके यहाँ वृद्ध लाचारी, बेबसी और दीर्घ जीवन के अभिशाप से आक्रांत नहीं हैं, बल्कि उनमें क्रांतिकारिता का उद्वेलित भाव निहित है। 'पाखंड पर्व' ऐसी ही कहानी है जहाँ 'रुकिया' के बुलंद हौसले और सत्य के प्रति उत्कट समर्पण को दर्शाया गया है। रुकिया एक विधवा वृद्धा है। गाँव में दो व्यक्तियों के बीच राजनीतिक और सामाजिक द्वंद्व के तहत उसके बेटे को साजिश द्वारा जेल करवा दिया जाता है। सुंदर बाबू और शम्भू के उठापठक के बीच रुकिया फँसती चली जाती है। शम्भू, सुंदर बाबू को रुकिया के पतोहू के साथ नाजायज सम्बन्ध बनाने के गलत

इल्जाम में फंसा देता है। जबकि असल में शम्भू और उसके लोग ही दुष्कर्म में लिप्त रहते हैं। पंचायत के समक्ष रुकिया को सुंदर बाबू के विपक्ष में गवाही देनी होती है। रुकिया जान रही होती है कि सुंदर बाबू निर्दोष हैं। शिवचरण(रुकिया का पति) की मृत्यु और बबुजना(रुकिया का बेटा) के जेल हो जाने से रुकिया की आर्थिक हालत दयनीय है। दो जून की रोटी के लाले पड़ जाते हैं। पंचायत के सामने जब रुकिया को गवाही देने के लिए पेश किया जाता है, तब वह शक्तिरूपा बन ओजस्वी वाणी में पंचायत के समक्ष अपनी हालातों की चिंता किए बगैर सत्य का दामन थामे क्रांतिकारी उद्‌घोष करती है– "मार–डाल, बेटा को सिखा–पढ़ाकर चोर–उचक्का बना दिया। पतोहू को सब मिलकर भोग लगाते हो। नहीं–नहीं मैंने कभी किसी समय सुंदर बाबू को अपने घर–आंगन में नहीं देखा।"[10]

वृद्धों का जीवन गीली मिट्टी की तरह होता है। शिल्पी उसे जिस प्रकार का आकार देना चाहे दे सकता है। लाचारगी और बेबसी इनके जीवन के अंग हो सकते हैं, पर जीवन की तमाम कुरूपताओं और विद्रूपताओं के बीच प्रधान–तत्व नहीं हो सकते। निश्चय ही उषाकिरण खान की कहनियों में वृद्धों का विशिष्ट स्थान है जिनमें जिजीविषा का उत्तुंग साहस पूरे गर्व के साथ समन्वित है।

अहा ! ग्राम्य जीवन और आभ्यन्तर राजनीति

ग्राम्य जीवन की काहनियों में वहां का परिवेश, लोगों के सम्बन्ध के प्रति आस्था, लोकगीत और कथाओं का अपरिहार्य स्थान होता है। इन तत्वों के बिना ग्रामीणता का एक बड़ा पहलू छूट जाएगा। प्रेमचंद के बाद स्वतंत्रता–प्राप्ति के उपरान्त दोनों तत्वों को समान रूप से कथ्यों के बीच फलने–फूलने का अवसर देने का साहसिक कार्य बहुत कम रचनाकारों ने किया है। प्रेमचंद के कथा–साहित्य के बाद मेरी दृष्टि सीधे नागार्जुन और श्रीलाल शुक्ल पर केन्द्रित होता है। ग्रामीण संवेदनाओं के स्तर पर राजनीतिक चाल–ढाल को एकान्वित करना किसी भी कथाकार के लिए साहस एवं चुनौतीपूर्ण भरा कार्य होता है। श्रीलाल शुक्ल ने राग दरबारी लिखकर आधुनिक काल में गाँवों के सामाजिक परिदृश्य में राजनीति, स्वार्थ, भ्रष्टाचार का जो ताना–बाना रचा है, वह अपने आप में अपूर्व है। किन्तु इस क्रम में उनसे गाँव की संवेदनाओं का प्राकृत रूप अछूता सा रह गया। इस कारण उनकी जबरदस्त आलोचना भी हुई थी। राग दरबारी पर संस्मरण लिखते हुए श्रीलाल शुक्ल कहते हैं– "यह दूसरी बात है कि कहीं–कहीं घड़ी का पेंडुलम दूसरी ओर इतना चला गया कि खुद मुझे संवेदनहीनता, सतहीपन, ग्रामीण संस्कृति, हास्य–व्यंग्य की अति जैसे आरोपों पर कटघरे में खड़ा किया गया। उपन्यास को सशक्त और अत्यंत महत्वपूर्ण मानने वाले और कभी–कभी गलत कारणों से भी प्रशंसा करने वाले आलोचकों की कमी नहीं है, पर कई प्रमुख आलोचकों ने उपर्युक्त आरोपों का उल्लेख किया है।"[11] उषाकिरण खान ने दोनों अंतर्वस्तु को पकड़ने का एक अच्छा प्रयास किया है। इनकी कुछ कहानियों में गाँव के स्वच्छ–निर्मल परिवेश, रम्य–दृश्यों, रूमानी तेवर के साथ शोषण एवं राजनीतिक दाँव–पेंच का यथार्थ रूप भी सामने आया है। 'कौस्तुभ–स्तम्भ' एक ऐसी ही कहानी है जिसमें शोषण के कारगर तरीकों का अनावृत्त किया किया गया है। सिर्फ अनावृत्त ही नहीं शोषक को सांकेतिक रूप में चेतावनी देने की गूंज भी है। मंगल बहू के बेटे अनधन को बैजू पंडित चाक पर मिट्टियाँ सिखाने के बहाने अपने घर पर ले जाता है। मंगल बहू की चाक और धीरे–धीरे उसके घर

की सारी मिट्टी भी ले जाता है किन्तु अनधन को सिखाने के बजाए उसे प्रताड़ित किया जाता है। उसे इस कदर शारीरिक प्रताड़ना दी गयी कि उसके हाथ का ऊपरी हिस्सा पूरी तरह फूल गए। शोषक की प्रवृत्ति होती है – बार–बार शोषण करना। अपने अधीनस्थ को इस प्रकार प्रताड़ित करना कि उसकी शोषण–वृत्ति भी बनी रहे और शोषित चुपचाप उसे सहता चला जाए। अनधन जब भागकर अपने घर आता है तो शिकारी की तरह उसके पीछे बैजू पंडित भी आ धमकता है। देवी माँ बैजू पंडित के हाथों से अनधन को मुक्त करवाती हुए कहती है– "बैजू पंडित, मिट्टी–चाक सब ले गए मुफ्त, अब विपत्ति की मारी इस दुखिया के बच्चे को बख्श दो।

देवी माँ मैं तो उपकार करना चाहता था– बैजू ने समझाया।

अभी तक कितनी बार चाक पर काम करने दिया?

पहले मिट्टी बनाना तो सीख ले, मिट्टी तैयार करना सबसे बड़ी कला है माँ।

ठीक है, वह काम तुम स्वयं करो। इन्हें इस कला को सीखने की अब इच्छा नहीं है।"[12]

ऊपर से दिखने पर उपर्युक्त भाषा सहज और सामान्य सी प्रतीत होती है किन्तु इसकी लक्ष्यार्थ ध्वनि आरम्भिक चेतावनी को पुष्ट करती है। यह कहानी गाँव के उन राजनेताओं की तस्वीर भी प्रस्तुत करती है जो विकास की दहलीज को तभी पार करते हैं, जब आपदा का कहर बरप चुका होता है। उस मुश्किल स्थिति में भी इनकी राजनीतिक चालें संवेदनहीनता के सोपान को पार करते हुए आगे बढ़ रही होती हैं। गाँव में भीषण बाढ़ आ चुकी है। 'राहत सामग्री का वादा, सरकार का फायदा' जैसे वास्तविक मुहावरों को चरितार्थ करते हैं ये नेता।गाँव की स्थिति भयावह है, किन्तु सहायता के रूप में सरकार द्वारा बासी पावरोटी का गिराना और लोगों को उसी हालत में निर्विकल्प छोड़ देना गाँव में राजनीतिक स्वार्थ पर करार प्रहार है। देवी माँ द्वारा राजनीतिक गीदड़ो की चाल को पर्दाफाश करते हुए उषाकिरण खान पूरे देश की राजनीतिक व्यवस्था का रूपक गढ़ती हैं और उस पर प्रबलतम चोट करती हैं– "हुँह, अपने लोगों की अपनी चुनी हुई सरकार। अपना नुमाइंदा, एक नाव तक नहीं, कोई खोज खबर नहीं। जरूरत क्या है उसकी। हेलीकाप्टर में सड़े–हुए पाव–रोटी पानी में छपाक से गिरा देने भर से ही उनके कर्तव्यों की इतिश्री हो जाती है। बाकी का काम अखबार वाले कर देते हैं–काफी राहत सामग्री बाँटी गयी। सब ठीक है।"[13] 'बाकी का काम अखबार वाले कर देते हैं– यह संकेत है देश के प्रतिष्ठित चौथे खम्भे में किसी खास पार्टी और संस्था के ठेकेदारों द्वारा उसके गुणगान, छद्म–कर्तव्यनिष्ठा को रेखांकित करता बिकी हुई खबरों का। देवी माँ का यह कथन आज के समय के क्रूरतम यथार्थ को अभिव्यंजित करता है। जिस तरह आज मीडिया–अखबार शासन तंत्र के उर्ध्व पर काबिज खास चेहरे को बार–बार जनता के सामने प्रस्तुत करता है, वह देवी माँ की बातों का उत्कर्षतम बिंदु है। राजनीतिक संरचनाओं के साथ–साथ ग्राम जीवन की निर्मल और प्राकृत सुरभि को इनकी रचनाओं में महसूस किया जा सकता है। हिंदी साहित्य के आलोचक प्रवर रामचंद्र शुक्ल सूरदास पर आलोचना करते हुए कहते हैं– "वात्सल्य और श्रृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपने बंद आँखों से किया है, उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना–कोना वे झांक आए।"[14]

इसी तर्ज पर मैं यह जोर देकर कहना चाहूँगा कि उषाकिरण खान ने हिंदी कहानी में मिथिलांचल का जितना अधिक उद्घाटन अपनी कलम द्वारा किया है, उतना किसी और रचनाकार ने नहीं। इन क्षेत्रों का वे कोना–कोना झाँक आयीं। बारिश के प्रथम आगमन पर मिथिला के लोगों का

यह संवाद कितना सहज है– "अरे हो कोकाई ! खेत से भागो, झोपड़ी में आओ। पहिला मेघ है, ठनका–उनका गिरेगा तो तुम ही... [15]

धार्मिक सहिष्णुता मिथिला की परम्परा की एक खास पहचान है। हिन्दू हो या मुस्लिम, दोनों एक दूसरे के पर्व–त्योहार में स्वच्छ मन से शरीक होते हैं और उस परम्परा को भी अपनाते हैं जो धर्म विशेष से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र के जीवन का अभिन्न अंग बन चुकी है– "उसे याद आता है कि कैसे इस्लाम धर्म मानते हुए सबुजनी जितिया और छठ करती थी"।[16] कई दृश्य तो ऐसे हैं जैसे मिथिला की संस्कृति को आपके सामने प्रस्तुत कर दे– "मिट्टी की हाथी पर गौरी की पूजा करती हुई केतकी की ननद का झुंझलाया हुआ चेहरा याद आता है।" [17] कथाओं के बीच मिथिला के लोकगीत का विन्यास देखते ही बनता है–

अमिय चुबिय भूमि खसत, बाघम्बर जागत है
आहे होयत बाघ, बसहा धरि खायत है।"[18]

विवाहिता के विदाई के वक्त खोइंछा भरना मिथिलांचल की एक प्रमुख परम्परा रही है। माना जाता है कि खोइंचा भरने से लड़की, उसका पति और उसका परिवार सभी विघ्नों–कष्टों से दूर रहता है। यह मंगलकामना का एक प्रतीकात्मक स्वरूप है, अन्धविश्वास से इसका कोई ताल्लुक नहीं। यह परम्परा धर्म के बंधन को तोड़ते हुए मुस्लिम धर्म के रीति–रिवाज में शामिल हो चुका है– "अरे ! कहाँ गयी सुलेमान की कनिया, जरा सोना–सिन्दूर ले आ, केतकी की माँग भर। एक चुटकी धान–डूब ले आ, खोइंछा भर दे।"[19]

बाढ़ के मंजर का भयावह किन्तु वास्तविक रूप इनकी कहानी की अन्यतम विशेषता है। मिथिला क्षेत्र के कोसी बाँध का हर वर्ष टूट जाना और उसकी विभीषिका से गाँव के लोगों का संघर्षपूर्ण सामना 'कौस्तुभ स्तंभ' द्वारा दिखलाई पड़ता है– "असीम जल के इस विराट विस्तार में कभी कुछ गिरने की आवाज आती है तो कभी किसी पक्षी के फड़फड़ाने की। देवी माँ चारों ओर दृष्टि घुमाती हैं। कहीं कुछ नहीं है। पानी पर स्थिर करती हैं। साड़ी झोपड़ियाँ बह गयी–सी लगती हैं क्योंकि पानी एक विशाल स्लेट–सा दीखता है, सीधा सतर।"[20] पानी एक स्लेट सा दिखता है। यह सीधा सतर– यह वाक्य अनायास ही बाढ़ के आकार एवं रात में उसके भयानक रूप का एक बिम्ब उत्पन्न करता है। ठीक उसी प्रकार जैसे शमशेर बहादुर सिंह की 'उषा' कविता के द्वारा प्रातःकालीन आकाश नीला शंख जैसा प्रतीत होता है– "प्रातः नभ था बहुत नीला शंख जैसे"।[21]

वस्तुतः इनकी कहानियों में ग्रामीण जीवन की सुरम्यता है तो वहां की तिक्तता भी। मिथिला की परम्परा, संस्कृति, प्रकृति, मिट्टी और रीति–रिवाजों का संगम है तो शोषण का चित्रण भी। लोगों की ईमानदारी, भाईचारा तथा आपसी सद्भाव का मिला रूप है तो राजनीतिक चमचों पर तीक्ष्ण प्रहार भी। निश्चित तौर पर यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण परिवेश पर लिखने वाले समकलीन रचनाकारों में वास्तविक अनुभूति के धरातल पर प्रकृत तत्वों और राजनीतिक आयामों को अपनी कहानी में ढालकर उषाकिरण खान अग्रगण्य प्रतीत होती हैं।

संदर्भ–सूची :–

1. उषाकिरण खान संकलित कहानियाँ, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नयी दिल्ली, संस्करण–2017, पृष्ठ– 3।
2. वही, पृष्ठ– 4।

3. वही, पृष्ठ– 4।
4. वही, पृष्ठ– 5
5. स्त्री : मुक्ति का सपना, प्रो कमला प्रसाद, राजेन्द्र शर्मा (सम्पादक), वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2014, पृष्ठ– 107।
6. उषाकिरण खान संकलित कहानियाँ, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नयी दिल्ली, संस्करण–2017, पृष्ठ– 75।
7. वही, पृष्ठ– 11।
8. वही, पृष्ठ– 98।
9. वही, पृष्ठ– 98।
10. वही, पृष्ठ– 73।
11. धुनिक हिंदी उपन्यास, भीष्म साहनी, डॉ रामजी मिश्र, भगवतीप्रसाद निदारिया (सम्पादक मण्डल), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2010, पृष्ठ– 228।
12. उषाकिरण खान संकलित कहानियाँ, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नयी दिल्ली, संस्करण–2017, पृष्ठ– 131।
13. वही, पृष्ठ–130।
14. शुक्ल रचनावली–2, नामवर सिंह, आशीष त्रिपाठी(सम्पादक), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2016, पृष्ठ– 255।
15. उषाकिरण खान संकलित कहानियाँ, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नयी दिल्ली, संस्करण–2017, पृष्ठ– 42।
16. वही, पृष्ठ– 53।
17. वही, पृष्ठ– 54।
18. वही, पृष्ठ– 58।
19. वही, पृष्ठ– 59।
20. वही, पृष्ठ–123
21. http://kavitakosh.org/kk/%E0%A4%89%E0%A4%B7%E0%A4%BE_/_%E0%A4%B6%E0%A4%AE%E0%A4%B6%E0%A5%87%E0%A4%B0_%E0%A4%AC%E0%A4%B9%E0%A4%BE%E0%A4%A6%E0%A5%81%E0%A4%B0_%E0%A4%B8%E0%A4%BF%E0%A4%82%E0%A4%B9.

ꕥ★ꕥ

दिव्यांगों के समावेशन के संदर्भ में समावेशी शिक्षा : एक सर्वेक्षण

सुधीर कुमार तिवारी*

डॉ. सुहासिनी बाजपेयी**

वर्तमान समय में समावेशन को केवल एक नीति के रूप में नहीं वरन दिव्यांगों के लिए शिक्षा की प्रक्रिया के रूप में देखा जाना चाहिए। इस शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक का महत्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान समय में परिवर्तित शैक्षिक परिदृश्य के अनुरुप शिक्षकों को शिक्षण व्यवसाय हेतु तैयार करना शिक्षक–शिक्षा की मुख्य चुनौती है। दिव्यांग छात्रों को सहायता प्रदान करना ताकि उनका समावेश सामाजिक और शैक्षणिक रूप से सार्थक हो सके, समावेशी कार्यक्रमों में शिक्षक के सामने चुनौतियाँ हैं। भारत में समावेशी शिक्षा विशिष्ट आवश्यकता वाले बालकों की शिक्षा के लिए एक नवीन उभरती अवधरणा है। यह अवधारणा अनेक परिवर्तनों जैसे– एकीकृत शिक्षा, विकलांगों की शिक्षा एवं दिव्यांगों की शिक्षा के बाद एक नए स्तर पर पहुँची है। यह विभिन्न विकलांगता युक्त बालकों शिक्षा की के लिए एक नई खोजपूर्ण प्रणाली है जो प्राथमिक तौर पर स्कूली संस्कृति, नीतियों और व्यवहार एवं विद्यार्थियों से सीधे जुड़ी है। समावेशी शिक्षा छात्रों की भागीदारी की निरंतरता को सशक्त बनाने का अभियान है, जिसमें दिव्यांग बालकों भी शामिल हैं (सिंह, आर. आर. – नामदेव एच. 2014)।

दिव्यांगों के लिए शिक्षा का विकास– विश्व में समय–समय पर विकलांग विभूतियों ने अपने ज्ञान के प्रकाश से संसार को प्रकाशमान किया है, जिसमें दीर्घतमा की रचनाएं, होमर का महाकाव्य, मिल्टन कविताएं, बीटोवन का संगीत, थॉमसन एडिशन और लुई ब्रेल के अविष्कार एक झलक मात्र हैं। अक्षम बालकों के लिए धरातल स्तर पर शिक्षा के प्रयास ब्रिटिश शासन के बाद ही दिखाई पड़ते हैं जिसे हम यूरोप में विकास कार्यों का प्रतिफल भी मान सकते हैं। 19 वीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में ईसाई मिशनरियों के माध्यम से विशेष आवश्यकता वाले बालकों को शिक्षित करने की प्रक्रियाओं का भारत में प्रादुर्भाव हुआ। ईसाई मिशनरी एवं देश के परोपकारी व्यक्तियों/संगठनों के सहयोग से विकलांग व्यक्तियों के लिए ठोस शुरुवात होती है। 1826 में राजा काली शंकर भोपाल ने वाराणसी में दृष्टिहीन व्यक्तियों के लिए एक विशेष प्रकार का आश्रम खोलकर विशेष शिक्षा की औपचारिक शुरुआत की। स्वतंत्रता के पूर्व भारत में दिव्यांग बालकों के लिए शिक्षा का प्रारम्भ मानसिक विकलांगों से होता है जिसका प्रारम्भ सन् 1841 में चेन्नई में स्थापित ल्यूनैटिक असाइलस से माना जाता है। मूक–बधिरों की शिक्षा के लिए सन् 1884 बम्बई (मुंबई) में एक प्रशिक्षण केंद्र खोला गया और दृष्टिबाधित बालकों के लिए पहली पाठ्यशाला ऐनी शार्प ने जीम दवतजी India Industrial school for Christian blind (1887, अमृतसर) स्कूल की स्थापना सन् 1887 की।

भारत में विशेष विद्यालयों के उदय से संबंधित प्रचलित आलेखों से ज्ञात होता है कि स्वतंत्रता पूर्व भारत में दिव्यांगों के लिए औपचारिक शिक्षण व्यवस्था की शुरुआत हो चुकी थी। भारत

*** पीएच–डी. शोधार्थी, शिक्षा संकाय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र।**

**** सहायक प्रोफेसर, शिक्षा संकाय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र।**

सरकार के दृष्टिहीनता प्रतिवेदन (1944) के अनुसार स्वतंत्रता पूर्व भारत में दृष्टिबाधित विद्यालयों की कुल संख्या 32 के आसपास थी। स्वतंत्रता पूर्व श्रवण बाधित विद्यालयों की संख्या 34 एवं मानसिक रूप से पिछड़े बालकों के लिए विद्यालयों की संख्या मात्र 3 ही थी। दिव्यांगों की शिक्षा के संदर्भ में शिक्षा का विकास विशिष्ट, एकीकृत एवं समावेशी शिक्षा के रूप में परिलक्षित हुआ है, जिसका विकास कुछ इस प्रकार है–

विशिष्ट शिक्षा– विशिष्ट बालकों के लिए समाज की मुख्य धारा से प्रथक उनकी विशेषताओं एवं आवश्यकता के अनुरूप विद्यालय की अवधारणा है। विशिष्ट शिक्षा, जो विशेष विद्यालय, कक्षा, शिक्षण एवं पाठ्यक्रम से संबंधित है लेकिन इस अवधारणा के फलस्वरूप सामाजिक अलगाव, भेदभाव एवं पक्षपात की व्यवस्था का जन्म होता है।

एकीकृत शिक्षा– सभी बालकों का समान सामजिक विकास हो सके, इसलिए लोकतांत्रिक व्यवस्था के फलस्वरूप सभी को समान शिक्षा के लिए समान अवसर प्राप्त हैं। यह व्यवस्था बीसवीं शताब्दी में मानवतावादी दृष्टिकोण के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुआ जो अलगाववाद की नीति को अस्वीकार करती है। इस शिक्षा के अंतर्गत विशिष्ट बालकों के लिए अलग से विद्यालय खोलने के जगह उन्हें सामान्य विद्यालयों में सामान्य विद्यार्थियों के साथ ही शिक्षा प्रदान की जनि चाहिए जिससे उनका उचित विकास. सामाजिक समायोजन हेतु समान अवसर मिल सकें।

समावेशी शिक्षा– समावेशी शिक्षा, एकीकृत शिक्षा का ही परिष्कृत रूप है जो व्यक्ति की स्वतंत्रता, गरिमा, जिम्मेदार नागरिक और अवसरों की समानता पर बल देती है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विकलांगता के कुछ नए प्रकार की पहचान के फलस्वरूप कुछ नए प्रकार की विकलांगता जैसे– संवेगात्मक अशांत बालक, अधिगम अक्षमता... का अस्तिव आने लगा जिसके कारण सभी के लिए शिक्षा प्रबंधन की समस्या आ गयी। विकलांगता के क्षेत्र में प्रभावशाली परिवर्तन का दौर 3 दिसम्बर 1981 ई० में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विकलांगता दिवस की स्थापना के साथ उदय होता है। इसका उद्देश्य था– पूर्ण सहभागिता व समानता। सही मायनों में इसी घोषणा ने सामान्य लोगों का ध्यान विकलांग लोगों के प्रति आकर्षित किया। अन्तर्राष्ट्रीय विकलांगता वर्ष का प्रमुख उद्देश्य सामान्य लोगों में विकलांगता के प्रति धनात्मक अभिवृत्ति का विकास करना, विकलांगों को समाज में उचित स्थान प्रदान करना तथा सामाजिक क्रियाओं में उन्हें सक्रिय भागीदारी के लिए तैयार करना था (कुमार, एस., 2017)। इस समस्या के परिणाम स्वरूप समावेशी शिक्षा के नए विचार का उदय हुआ। 'सभी के लिए शिक्षा' विश्व सम्मेलन (1990–थाईलैंड) में यह सहमति बनी कि सभी को सीखने के लिए समान अवसर मिलना चाहिए। जून 1994 स्पेन की सरकार द्वारा यूनेस्को के सहयोग से सलमांका (Salamanca) में आयोजित अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में यह धोषणा की गयी कि अपंग बालकों को उसने पास ही विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर मिलें, जिसमें सभी के लिए शिक्षा तथा बच्चे, युवा एवं विशिष्ट आवश्यकता वाले बालकों को समावेशी शिक्षा द्वारा शिक्षा प्रदान करने पर बल दिया गया और इस प्रकार समावेशी शिक्षा का सूत्रपात हुआ।

समावेशी शिक्षा के मुख्य सिद्धांतों के अंतर्गत सभी विद्यार्थियों को सहर्ष स्वीकार करना, व्यक्तिग्त भिन्नता को ध्यान में रखते हुए शिक्षण, दिव्यांगों के लिए बाधारहित वातावरण एवं माता–पिता की सहभागिता आदि को सुनिश्चित किया जाता है और साथ ही उनका पक्षपात रहित मूल्यांकन किया जाता है जो जनतांत्रिक व्यवस्था, स्वतंत्रता, समता, समानता एवं बंधुत्व के मानवीय मूल्यों पर बल देती है। समावेशी शिक्षा केवल एक दृष्टिकोण ही नहीं बल्कि एक माध्यम है, विशेषकर उन लोगों के लिए जिनमें

कुछ सीखने की ललक होती है और जो तमाम अवरोधों के बावजूद आगे बढ़ना चाहते हैं। ज्ञान हासिल करना सक्रियता है निष्क्रियता नहीं। इसका रूपान्तर होना चाहिए और इसके लिए शिक्षा ग्रहण करने वालों की भागीदारी जरूरी है। समावेशी शिक्षा में दिव्यांग बच्चों के लिए भेदभाव रहित, अवरोध रहित वातावरण का निर्माण किया जाता है। इस वातावरण में दिव्यांग बच्चों को भिन्न भिन्न उपकरणों की सहायता से शिक्षित किया जाता है, दिव्यांग बालक के अंदर निहित क्षमताओं का विकास कर उसे आत्मनिर्भर बनाया जाता है। इसलिए समावेशी शिक्षा विभिन्न विकलांगता युक्त बच्चों के लिए शिक्षा की एक नई खोजपूर्ण प्रणाली है। विशिष्ट, एकीकृत एवं समावेशी योजना के मध्य अंतर को को इस प्रकार समझ सकते हैं–

Segregation Policy	Intregation Policy	Inclusive Education Policy
Sorry I have not Education for Special Clind	Welcome but No Resoureses for Specail Child	Welcome and I have Resoures for Specail Child

मंगल समेकित विद्यालयों की स्थापना

आज शिक्षा ने दिव्यांगों के लिए अस्वीकरण और अति संरक्षण जैसी धारणा को पूर्णतः नकार दिया है क्योंकि अति संरक्षण की भावना दया से प्रेणित होती है और अस्वीकरण की भावना घृणा से। इसलिए ये दोनों ही दिव्यांगों के समाजीकरण में बाधक होते हैं। समावेशी शिक्षा अध्यापक और विद्यार्थियों के बीच की कड़ी को मजबूत करती है जिससे छात्रों के ज्ञान का विकास होता है। समावेशी शिक्षा कक्षाओं में ऐसे वातावरण का निर्माण करती है जिससे बच्चे स्कूली शिक्षा के साथ साथ अन्य सामाजिक गतिविधियों से जुड़ जातें हैं। समावेशी शिक्षा द्वारा सभी विद्यार्थियों की योग्यता का विकास किया जाता हैं जिससे वे अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन कर सकें, जो एकीकृत शिक्षा का ही उत्तरोत्तर विकास है। एकीकृत और समावेशी शिक्षा के मध्य विभिन्न आयामों के आधार पर अंतर को इस प्रकार भी समझ सकते हैं–

क्रम	आयाम	एकीकृत शिक्षा	समावेशी शिक्षा
1.	प्रारूप	यह व्यक्तिगत प्रारूप पर आधारित है।	यह सामाजिक प्रारूप पर आधारित है।
2.	उत्तरदायित्व	इसमें विशिष्ट आवश्यकता वाले विद्यार्थियों से अपेक्षा की जाती है कि वह स्वयं को विद्यालय की आवश्यकतानुसार अपेक्षित सुधार करके सामंजस्य स्थापित करें।	इसमें विद्यालय का उत्तरदायित्व है कि वह विशेष आवश्यकता वाले विद्यार्थियों के अनुरूप पाठ्यक्रम में अनुकूलन करें एवं विद्यालय के भवन व अन्य सुविधाओं को उपलब्ध कराने हेतु उचित प्रबंध करें।
3.	प्रक्रिया	यह एक न्यूनतम अवधि का उद्देश्य है। इसके अंतर्गत विशिष्ट आवश्यकता वाले विद्यार्थियों को सामान्य विद्यालय में शिक्षा के अवसर उपलब्ध कराए जाते हैं। एकीकरण से इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि विद्यालय में विकलांग विद्यार्थियों कुछ सीख पा रहे हैं या नहीं।	यह एकीकृत शिक्षा का परिमार्जित रूप है और निरंतर चलने वाली एक लंबी अवधि की प्रक्रिया है, जिसमें विकलांग विद्यार्थियों की भागीदारी को हर एक स्तर पर सुनिश्चित किया जाता है।

4.	क्रियान्वयन	इसमें विशिष्ट आवश्यकता वाले विद्यार्थी की क्रियात्मक भागीदारी की अधिक अपेक्षा होती है।	इसमें विद्यालय की क्रियात्मक भागीदारी आवश्यक होती है।
5.	उद्देश्य	इसका अंतिम उद्देश्य विशिष्ट आवश्यकता वाले विद्यार्थियों को प्रायः सामान्य विद्यालयों में प्रवेश कराने तक ही सीमित है।	समावेशी शिक्षा में विकलांग बच्चे की विद्यालय की प्रतिक्रिया में भागीदारी सुनिश्चित की जाती है।

सिंह ए, के. (2008)

अतंर्राष्ट्रीय स्तर पर समावेशी शिक्षा के लिए सलमांका सम्मलेन 1994 मील का पत्थर साबित हुआ। यह सम्मेलन जनू 1994 में स्पेन के सलमांका शहर में आयोजित हुआ जिसमें 92 देशों के प्रतिनिधियों व 25 अतंर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने भाग लिया। इस सम्मलेन का प्रमुख निर्णय था सभी के लिए शिक्षा जिसमें बच्चे, युवा और विशेष आवश्यकता वाले लोगों (दिव्यांगों) को सामान्य शिक्षा व्यवस्था में शिक्षा प्रदान करना होगा। भारत में विकलांगता के विभिन्न पहलुओं को शामिल करने हेतु कुछ संवैधानिक नियम (च्वसपबल) को संसद द्वारा पारित किया गया जैसे भारतीय भारतीय पुनर्वास परिषद अधिनियम (1993), निःशक्त व्यक्ति अधिनियम (समान अवसर, अधिकार संरक्षण और पूर्ण भागीदारी–1995) तथा राष्ट्रीय न्यास (1999) आदि हैं।

निःशक्त व्यक्ति अधिनियम (1995) अधिनियम ने दिव्यांग व्यक्तियों के सपनों को एक नई दिशा प्रदान की जिसके अंतर्गत दृष्टिगत, श्रवण, मस्तिष्क एवं शारीरिक विकलांगता से संबंधित 7 प्रकार की विकलांगता को कानूनी रूप में स्वीकार किया गया। इस अधिनियम का विकास दिव्यांगजन अधिकार अधिनियम (2016) के रूप में हुआ है, जो दिव्यांगों की दृष्टिकोण से एक क्रांतिकारी सकारात्मक परिवर्तन है। आज दिव्यांगों को शिक्षा देने हेतु समावेशी वातावरण के निर्माण की बात की जा रही है, जिसमे सभी बच्चों का ध्यान रखा जा सके। इसके परिणाम स्वरूप विकलांगता के कई नये प्रकार प्रकाश में आ सकें हैं जिनसे हम पहले अनभिज्ञ थे। बदलते हुए सामाजिक परिवेश में विकलांगता की नई–नई श्रेणियां प्रकाश में आई हैं।

भारत में समावेशित शिक्षा पद्धति के विस्तार हेतु आर्थिक सामाजिक और कई प्रकार की परेशानियों से संघर्ष करना पड़ रहा है। विशिष्ट आवश्यकता वाले विद्यार्थियों में समावेशित शिक्षा पद्धति से आत्मविश्वास तथा आत्म–सम्मान की भावना मजबूत होगी। यह विकास सिर्फ विकलांगों को ही नहीं बल्कि सामान्य बच्चों में भी समुदायिक भावना का विकास होगा (सिंह, ए. के. 2008)। समाज का विकास उसमें निहित सम्पूर्ण मानवीय क्षमता का कुशलतापूर्वक उपभोग पर निर्भर करता है। समाज में सभी वर्ग के सहयोग के बिना पूर्ण विकास संभव नहीं हो सकता है। भारत में विश्व की सबसे बड़ी शिक्षा प्रणाली के कार्यरत होने के बाद भी 5 प्रतिशत से भी कम निःशक्त बच्चों को विद्यालयों में प्रवेश मिल पाता है जबकि 20 प्रतिशत निःशक्त बच्चे निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा के तीन साल भी पूर्ण नहीं कर पाते हैं। अतः आज शिक्षण प्रक्रिया में विकलांग बच्चों को अवरोध रहित वातावरण में उचित शिक्षा तथा सामाजिक सामान्यीकरण के साथ मुख्यधरा में शामिल करने हेतु प्रेरित किये जाने की महती आवश्यकता है (सिंह, आर. आर. और नामदेव एच. 2014).

विशिष्ट बालकों की पहली आवश्यकता यह होती है कि उनके विशिष्ट गुणों, क्षमताओं और कमियों के आधार पर उनके अनुकूल शिक्षा व प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए ताकि वे समाज में अपने आपको समायोजित कर सकें और समाज उनसे लाभान्वित हो सकें (कुमार, एस. 2017)। समावेशी शिक्षा विभिन्न आवश्यकताओं वाले विद्यार्थियों की शिक्षा प्रक्रिया के रूप में अपनी अनिवर्यता को सुनिश्चित करती है जो शिक्षा के क्षेत्र में एक नया उपक्रम है और जिसमें विकलांग बच्चों को एक ही शारीरिक, सामाजिक, भावनात्मक और शैक्षिक वातावरण में गैर–विकलांग साथियों के साथ शिक्षा और प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। समावेशी शिक्षा की प्रासंगिकता का सबसे महत्वपूर्ण कारण समानता का सामाजिक मूल्य है। कई शोधों से पता चला है कि समावेशी शिक्षा का प्रभाव दूरगामी होता है। समावेशी शिक्षा हाल ही में भारतीय शिक्षण–अधिगम प्रणाली से जुड़ा है। समावेशी शिक्षा के संप्रेषण माड्यूल के जरिये चलाये जा रहे सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रम, मूल्यांकन के अधिकांश पैमाने पर खरा उतरा है। इसके अधिकांश प्रशिक्षण माड्यूल गुणवत्तापूर्ण हैं। केवल आवश्यक है इसके क्रियान्वित रणनीतियों में सुधार लाने की जिससे प्रशिक्षण कार्यक्रम को और अधिक बेहतर बनाया जा सके (संजीव, के. और सिंह एस. पी. 2008)।

आज भारत में समावेशी शिक्षा को अनेक आर्थिक, सामाजिक एवं कई प्रकार की परेशानियों से संघर्ष करना पड़ रहा है। विकलांगों में समावेशित शिक्षा पद्धति से आत्मविश्वास तथा आत्म सम्मान की भावना मजबूत होगी। समावेशी शिक्षा के द्वारा सिर्फ दिव्यांगों में ही नहीं बल्कि सामान्य विद्यार्थियों में भी सामुदायिक भावना का विकास होगा। इस बात के अनेकानेक प्रमाण हैं कि विकलांगता अयोग्यता की निशानी नहीं है। आज अनेक क्षेत्रों एवं प्रतियोगिताओं में विकलांग व्यक्तियों ने जो प्रदर्शन कर दिखाया है, वह सामान्य व्यक्तियों की योग्यता पर प्रश्न चिन्ह लगाता है (कुमार, एस. 2017)। शैक्षिक उपयोगिता दृष्टिकोण के इस महत्वपूर्ण आयाम को देखते हुए हमारा दायित्व बन जाता है कि ऐसे प्रयास किये जाएं जिससे दिव्यांग बालकों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास किया जा सके।

संदर्भ–ग्रंथ–सूची :–

- कुमार, एस. (2017). दिव्यांग बच्चों के प्रति शिक्षामित्रों का दृष्टिकोण. परिप्रेक्ष्य राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन विश्वविद्यालय (न्यूपा), 24(2). पृ.सं. 67–74.
- दिव्यांगजन अधिकार अधिनियम (2016). http://www-ncpedp-org/RPWDact2016
- निःशक्त जन अधिनियम (1995) http://gu-vikaspedia-in/health/ab8a95acdab7aae&a97ac1a9cab0abeaa4/PWD-pdf
- मंगल ए.के. – मंगल एस. (2017). समेकित विद्यालय की स्थापना, शिप्रा प्रकाशन, प्रयागराज।
- संजीव के. (2007). विशिष्ट शिक्षा, जानकी प्रकाशन, पटना।
- संजीव, के. – सिंह एस. पी. (2008) सर्व शिक्षा अभियान के अन्तर्गत सेवाकालीन प्रशिक्षण पा रहे स्कूली शिक्षकों के समावेशी प्रशिक्षण कार्यक्रम का मूल्यांकन. परिप्रेक्ष्य राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन विश्वविद्यालय (न्यूपा), 15(3). पृ.सं. 75–80।
- सालामांका(1994) http://www-ncert-nic-in/html/pdf/inclusive_education/cover-pdf
- सिंह, आर. आर. – नामदेव एच. (2014). भारत में समावेशी शिक्षा की दशा और दिशा. परिप्रेक्ष्य राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन विश्वविद्यालय (न्यूपा), 21(3). पृ.सं. 01–18.

चांदायन की लोक-चेतना

डॉ. रामशंकर पुजारी *

भारतीय साहित्य में साहित्य की दो परंपरायें रही हैं। पहली वैदिक परंपरा तथा दूसरी लौकिक परंपरा। लोक ने वेद को कभी पूरी तरह स्वीकार नहीं किया। इसीलिए वैदिक परिपाटी से अलग लोक की एक अलग परिपाटी बनी। लोक का अर्थ है जन सामान्य। वर्तमान के संदर्भ में आम आदमी। साहित्य के संदर्भ में लोक शब्द जब विशेषण बन जाता है तब उसका अर्थ बदल जाता है। जैसे लोककथा, लोकगीत, लोकापवाद आदि। अर्थात लोक एक फिसलता हुआ शब्द है। लोगों की चेतना सामाजिक सरोकारों से किस प्रकार संघर्ष करती है इसे पहचानने की क्रिया को लोक चेतना कहा जाता है। इतिहास में मात्र राजा महाराजाओं की बातें होती हैं। परंतु आज इसके अध्ययन की जरूरत महसूस हो रही है कि लोगों का जीवन कैसा था? साहित्य में जहाँ एक तरफ कोयल है, सरोवर में कमल है, भरतमुनि की नर्तकी है तो दूसरी तरफ कौवा है, तालाब में कुमुदिनी है और ताली बजाकर ग्राम युवती का नाच भी है। इसी को हम साहित्य में लोक चेतना का संमिश्रण कह सकते हैं। लेकिन शिष्ट साहित्य में कभी भी इन लोगों को जगह नहीं मिली। शिष्ट साहित्य में ये लोग हमेंशा पार्श्वच्छवि रहते हैं। याद कीजिए निराला की कविता-हिन्दी के सुमनों के प्रति। जहाँ निराला शायद इसीलिए कहते हैं - मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छवि।

हिन्दी साहित्य का आरंभ लगभग दसवीं शताब्दी से होता है। जहाँ हम देखते हैं कि साहित्य में अनेक छंद- दोहा, रासक, त्राटक, चउपई, चाँचर, फाग, कुलक आदि फूट पड़ते हैं। यह लोक चेतना कैसे आती है। इसका अध्ययन भी रसप्रद होगा। वास्तव में तो साहित्य में लोक की यह प्रविष्टि आठवीं सदी से ही होने लगी थी। पउम चरिउ अपभ्रंश का आदिकाव्य है। जहाँ हम देखते हैं कि लोक चेतना कुलबुलाने लगी थी। पौराणिक मिथकों पर प्रश्नचिह्न लगने शुरू हो गये थे। जैसे यदि रावण के दस शिर थे तो वह सोता किस करवट था? क्या कुंभकर्ण छ महीने सोता था? पउम चरिउ के रचनाकार ने राम के यथार्थ मानव चरित्र का जैसा अनुभव किया वैसा ही बिना लाग लपेट के रचना में प्रस्तुत किया। स्वयंभू ने लोक सुख में ही आत्म सुख की अनुभूति की। तुलसीदासजी के शब्दों में स्वान्तः सुखाय।

अपभ्रंश के कवियों ने यह प्रयत्न किया कि संस्कृत की कृतियाँ जन जीवन तक पहुँचें। साहित्य की कुछ प्रणालियाँ होती हैं जो कुछ समय बाद निर्जीव बन जाती हैं। मगर समय-समय पर रुढ़ि बद्ध निर्जीव साहित्य लोक चेतना पाकर पुनः सजीव हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि आदिकालीन साहित्य में यह जो सजीवता आई वह लोक जीवन के स्पर्श से आई।

हिन्दी का साहित्य अपभ्रंश की इस सजीवता को लेकर आगे बढ़ा। रासो साहित्य, जैन साहित्य, सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य, लौकिक साहित्य, सूफी साहित्य आदि इसी लोक चेतना की संजीवनी से सजीवन हुआ। जब तक खास को छोड़कर आम आदमी, सामान्य आदमी की चिंता, उनके आचार व्यवहार आदि को लेकर साहित्य नहीं लिखा जायेगा तब तक लोक स्वीकृत नहीं होगा। आरंभिक हिन्दी साहित्य में लोक चेतना का स्वर सर्वाधिक भास्वरता से व्यक्त हुआ है। सभी धाराओं के कवियों ने शास्त्रीय रुढ़ियों और बाह्य आडंबरों के विरोध में सामान्य जन के लिये जीवन मुक्ति का संदेश दिया।

---

* अध्यक्ष, हिन्दी–विभाग, आर्ट्स ऐण्ड कॉमर्स कॉलेज, विरमगाम–गुजरात।

यह स्मर्तव्य है कि विरह भावना की वह अभिव्यक्ति जो मानवीय परिदृश्यों के माध्यम से संदेश रासक (अब्दुल रहमान)में व्यक्त हुई है आगे चलकर हिन्दी साहित्य की मुख्य धारा बन जाती है। जयदेव की परंपरा वाली राधा को सबसे पहले विद्यापति ने प्रतिष्ठित किया। राधा के द्वारा उन्होंने श्रृंगार और भक्ति को स्थापित किया। शैव और वैष्णव का समन्वय लोक धरातल पर किया।

सरहपा सबसे बड़े सिद्ध कवि माने जाते हैं। दसवीं शताब्दी की उनकी रचनाओं में धर्म को लेकर, जाति-पाँति को लेकर, यह बताया गया है कि यदि ईश्वर को पाना है तो केवल शास्त्रों पर ही आधारित नहीं होना है बल्कि उसे आचरण में भी अपनाना होगा। उन्होंने स्वयं अनुसूचित कन्या से विवाह भी किया था। अतः लोक चेतना का स्वर सुना जा सकता है। नाथ कवियों में आदिनाथ, मत्सेन्द्रनाथ आदि कवि प्रसिद्ध रहे हैं। एक समय में उत्तर प्रदेश से लेकर पंजाब तक नाथ साधना प्रचलित थी। इन कवियों ने भी आचरण की शुद्धता पर बल दिया। इनके अनुसार जो मनुष्य की वाणी है वही ब्रह्म वाणी है। अतः नाथ कवियों न दो प्रकार के लोक (ब्रह्म एवं जन) को मिलाने का प्रयास किया। सूफी काव्य परंपरा में अमीर खुशरों ने प्रेमाख्यान न लिखकर सूफी साधना के चार तत्वों (शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत) के आधार पर अपनी कविता लिखी। आगे चलकर सूफी काव्य धारा के अन्य सूफी कवियों ने इन्हीं चार तत्वों से प्रेम का तत्व लेकर अपनी-अपनी प्रेम कथायें लिखीं। जायसी ने लिखा- जावत पंखी जगत के मिलि बैठे अमराउ। आपन आपन भासा में लेईं दइउ का नाउ।

संसार के लोग इसी प्रकार के पंछी हैं जो अपनी-अपनी भाषा में ईश्वर का नाम ले रहे हैं।

लोक तत्व को सूफी काव्य का प्रस्थान बिन्द माना जा सकता है। सूफी कवियों ने अपने काव्य की कथा को लोक जीवन से जोड़कर लिखा। कहीं उसे कल्पना से और कहीं इतिहास से भी जोड़ा। पदमावत का देशकाल ऐतिहासिक चित्तौड़ तथा काल्पनिक सिंघलगढ़ से संबंधित है। परंतु जायसी जब वर्णन करते हैं तब देशकाल को भूल जाते हैं। रचना में जब वे देशकाल का वर्णन करते हैं तब उनका अपना लोक अवध प्रांत ही रचना का लोक बन जाता है। ऐसा ही अनुभव सभी सूफी कवियों के यहाँ किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि इन सूफी कवियों को अपने लोक के प्रति बड़ी आस्था थी।

सूफी कवियों के काव्य के उन्मेश का सबसे बड़ा कारण है मानवतावाद। सूफी कवियों ने अपने मानवतावाद के चलते आक्रामकता के मन पर मरहम लगाने का काम किया। इस मानवतावाद का मूल तत्व प्रेम था। इसी प्रेम तत्व को उन्होंने अपनाया। लौकिक प्रेम को आलौकिक बना दिया। मात्र जायसी ही नहीं समस्त सूफियों ने ऐसा ही किया।

सूफी प्रेम कथा के सबसे पहले गायक हैं मौलाना दाउद। जिनकी रचना चांदायन सूफी प्रेमगाथा परंपरा की पहली रचना मानी जाती है। यह रचना दोहा और चौपाई के परिवर्तित रूप कड़वक शैली में लिखी गई है। चांदायन सूफी प्रेम कथाओं में सबसे अलग है। जहाँ अन्य सूफी कवियों ने अपनी कथा के नायक और नायिका राज-घराने के राजा या रानी अथवा राजकुमारी को बनाया वहीं दाउद ने अपनी रचना चांदायन के लिये नायक और नायिका का चुनाव एक लोक कथा के आधार पर लोक में से किया। चनैनी अथवा चँदैनी लोक कथा पर आधारित इस रचना का नायक कोई राजा नहीं बल्कि दाउद के अपने लोक की एक आभीर जाति का लोरिक है। चांदायन लोक कथा पर आधारित रचना है। एक ऐसी लोक कथा जो उत्तर प्रदेश के अलग-अलग क्षेत्रों के अलावा बिहार और छत्तीसगढ़ में भी अलग-अलग रूपों में प्रचलित है। चांदायन में कथा का केवल आधार है बाकी सब दाउद की कल्पना और

कल्पना का लोक है। कहने की जरूरत नहीं है कि यह काल्पनिक लोक दाउद का अपना लोक है- डलमऊ का लोक। दाउद ने इस कथा के माध्यम से लौकिक प्रेम को आलौकिक बनाया। चांदायन की दूसरी विशेषता यह है कि जहाँ अन्य सूफी प्रेम कथा की नायिकायें राजकुमारियाँ हैं वही चांदायन की नायिका चंदा किसी दूसरे आभीर व्यक्ति की विवाहिता नारी है। संपूर्ण रचना लोक चेतना का जीवंत उदाहरण है। चांदायन सहज लोक बुद्धि और शारीरिक पराक्रम की कथा है। इस कथा में प्रेम एक स्थायी लय की तरह सतत बजने वाला भाव है जहाँ स्वकीया या परकीया का कोई भेद नहीं है। कथा का नायक लोरिक अपनी व्याहता मैना से बहुत प्यार करता है लेकिन अपनी ही रियासत के महर सहदेव की विवाहिता बेटी चंदा, जो दुर्भाग्य से ससुराल में पति प्रेम से वंचित और हतास होकर मायके में रहती है, से मिलने के लिये वह किसी भी हद तक जाने को तैयार है। एक आदमी का प्यार उसके प्रेमी के लिये सभी सीमाओं को तोड़ता है। वह बार-बार मृत्यु का सामना करता है। लड़ाइयाँ लड़ता है। परंतु उसकी सभी लड़ाइयाँ निःस्वार्थ हैं और उसके प्रेमी की सुरक्षा के लिये हैं। वह जितनी बार मृत्यु का चेहरा देखता है उतनी बार अपने प्रेमी के और करीब जाता है। कहने की जरूरत नहीं है कि सूफी प्रेम कथा में यह प्रेमी ईश्वर का प्रतीक है। सूफी परिप्रेक्ष्य में यह कथा भक्ति और प्रेम की कथा है। नायिका चंदा और अहीर योद्धा लोरिक की यह प्रेम कथा उत्तर प्रदेश, बिहार और छत्तीसगढ़ में न जाने कब से कही-सुनी जा रही थी। रायबरेली में डलमऊ के मुल्ला दाउद ने इसे लिखित काव्य-रूप दिया। इसी क्रम में यह भी स्मर्तव्य है कि जायसी और तुलसीदासजी की काव्य-भाषा के रूप में अवधी के उदय की बुनियाद भी चंदायन ही है। रामायण और महाभारत की तरह वीरगाथा काल की एक रचना आल्हा भी लोक में गहरे उतरी है लेकिन लोक चेतना का जो रूप इस रचना में है वह इसे आल्हा ही नहीं अन्य किसी भी काव्य से भिन्न बना देता है।

चांदायन की कथा पूर्वांचल के लोक-रिवाजों की चरम अभिव्यक्ति है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का उपन्यास पुनर्नवा भी इसी चनैनी लोक कथा को अपने में आत्मसात किये हुए है। नायक लोरिक लोक जीवन की अभिव्यक्ति करता है, अपने अंचल का पूरा दर्पण बनकर सामने आता है। इस संदर्भ में रचना के विविध वर्णनों को प्रमाण रूप में देखा जा सकता है। चांदायन में गोवर नगर का वर्णन विशेष रूप से अवलोकनीय है-

कहूं कवितु मन भयो गियानू । कहत सुहावन सुनहु दै कानू ।
गोबर कहौं महर कर ठाऊं । कूआ बाइ बहुत अंबराऊं ।
नारियर गूवा केतहं रूषा । देषत रहैन लागै भूषा ।
दारयौं दाष बहुल लै लाई । नारिंग झारिग कहे न जाई ।
कटहर तार भरे अंबराना । जामिनि कैथ न को जाना ।
बांस षिजूरि बर पीपरा अंबिली भई सैवार।
राइ महर की बारीघोस होइ अंधियार।। (पद-18)

कवि की प्रकृति निरीक्षण दृष्टि कितनी पैनी है इस वर्णन में देखिए-

अति घन फेरि देषि अंबराई । बासहिं पंखि कहूं ते आई ।
चुहचुहाहिं ते सूवा सारी । कुहकुहाहिं ते कोकिल कारी ।
पिउ पिउ बबिहा करै पुकारा । नाचहिं मोर सबद झनकारा ।
महर पुकार ले रि दहि आई । पाडुकि येक येक चिललाई ।
हरियर आइ देस कर रहा । कागरूक बहु भाषा कहा ।
अस अंबराउ सुहावन जिहि चितु रहा लुभाइ।

बासहिं पंषी रहहिं अति छाडि न अंतरि जाइ।। (पद-19)
पैरहिं हंस मांछ फहरराहीं । चकवा चकवी केरि कराहीं ।
धौला ढेंक बइठ छिरियाए । बगुला बगुली सिहरी खाए ।
पीलू सोन तहाँ रहे छाई । अरु जल कुकुरी चुहचुहाई ।
पसरी पुरइनि तूलमतूला । हरियर पान ते रातुर फूला ।
जलपंखी आइ देस कर परा । कार कुरुंजवा जलहर भरा ।
सारस कुलरहिं राति नींदि तिल एक न आवइ।
सबद सुहाव कान पर जागत रइनि बिहावइ।। (पद-22)

चांदायन का लोक उत्तर प्रदेश में रायबरेली जिले का डलमऊ और उसके आसपास का अवध क्षेत्र है। यहाँ किन किन जातियों के लोग निवास करते हैं इसका वर्णन भी देखा जा सकता है-

बांभनखतरी बैस गोवारा । खांडरवार अउ अगगरवारा ।
बसहिं तिवारी अउ पंचवानां । धाकर जोसी अउ जजमानां ।
बसहिं खंधाई अउ बानजारा । जाति सरावग अउर पंवारा ।
सोनीं बसहिं सुनार बिनानी । रावत लोग बसाए आनी ।
ठाकुर बहुत बसहिं चौहानां । परजा पौनि गिनति को जानां ।
बहुत चापि दरमरि उठ खोरिन्ह हींडि न जाइ।
बीस बार बस गोवरा मानुस चलत भुलाइ।। (पद-25)

गोवर के लोगों का रहन-सहन, विद्वता, विलासिता और ठसक से रची पची उनकी जीवन शैली का वर्णन इस पद में देखा जा सकता है-

राइ कुरी कइ बइस अथाई । हम फुनि ठाढ भए तहां आई ।
अतिबिदबांसपंडित ते पढे । रूप बेरासि दइय के गढ़े ।
अधरन लागइ पान चबाहीं । दांति ति मुख महिं दीसहिं नाहीं ।
दान झूझ के बिरुद बोलावहिं । भांटन्हि कापर घोर देवावहिं ।
हाथ खरग बै अरि सिर देहीं । बैरन्हिं ऊपरि बीरा लेहीं ।
छत्तीस कुरी राजपुत भूंजहिं सासन गांउं।
देस के डांड आव महरइं कहं तिन्ह कुंवरनि के नांउं।। (पद-26)

गोवर के लोग ऐसे हैं तो उसका कारण भी है। कारण गोबर की हाट में बिकने वाली सामग्री का प्रभाव तो लोगों पर पड़ना ही है। आखिर लोग ही तो लोक है। और देखिए कवि दाउद की लोक पारखी नजर-

सून फूल हाटन्ह सब फूला । जिउ बिमोहि गा देखत भूला ।
अगरु चंदनु सबु धरा बिकाई । कूंकूं परिमल सुगंध खंधाई ।
बेनां अउरु कपूर सुहावा । मेद कस्तूरी महंक सनावा ।
पान अडागर सुरंग सोपारी । जैफर लौंग बिकाइ छुहारी ।
दौना मरुवा कुंद निवारी । गूंदे हार ति बेचहिं मारी ।
खांड चिरउंजी दाख खुरुहरी बहुतइ लोग बेसाहिं।
हीर पवार सोन भल कापर जत चाहिय सब आहि।। (पद-27)

कहा जा सकता है कि कवि जब लोक में पूर्ण रूपेण रत होकर लोक का निर्माण करता है तब केवल चेतन ही नहीं जड़ वस्तएँ भी लोक चेतना में शामिल होकर लोक को व्यापकता प्रदान करता है। दाउद का लोक ऐसा ही लोक है जहाँ जड़-चेतन सब एकाकार होकर व्यापक लोक चेतना का दर्शन किया जा सकता है। इस क्रम में देखिए गोवर के महर के सिंहद्वार का वर्णन-

कहउं महर सींह बारु बखांनी । बइठ सींह गढ़ि धरे बिनांनी ।
बहुत बीर तिन्ह देखि पराहीं । हिएं लाग डर खेंदि न खाहीं ।
देखत पवरि डीठि फिरि जाई । एक सूति सुतिहार उचाई ।
ओपि रूप कइ पानीं ढारा । अस कइ महर दवार संवारा ।
सात लोह एकहिं औटाए । बजर केवार पंवरि गढ़ि लाए ।
रारि जु बइसइ चौकी कुंत खरग रह छाइ।
पाखर सहस साठ फिरि चांटहि संचर न जाइ।। (पद-29)
फुनि हउं कहउं धौरहर बाता । ईंगुर पानि ढारि किय राता ।
सत षंड पाटा अनबन भांती । साठि चौखंडी भई जिन्ह पांती ।
असि रचना किय कौन बिनानी । साठि करस लै धरे सोनवानी ।
चउरासी सइ भांति उचाई । लिषी देररी अतें सुहाई ।
कनक खंभ जडि मानिक धरे । जगमगाहिं जनु तरई भरे ।
अगरू चंदन उषंटना अछइ सुहाई बासु।
देवलोक अस भाषहिं म कहुं आहि कबिलासु। (पद-30)

दाउद केवल महल या उसके सिंहद्वार तक ही नहीं ठहरते। महल के भीतर भी प्रवेश करते हैं। रनिवास में भी झाँकते हैं। रानियों के पहनावे और आभूषणों पर भी उनकी नजर पड़ती है-

राइ महर रानी चउरासी । इक इक के तर चेरि इकासी ।
बेगर बेगर होइ जेवनारा । बेगर मंदिर सेज संवारा ।
पाट महादे फूला रानी । सबइ अचेति वह अही सयानी ।
अगर चंदन फूल अउ पानूं । कूंकूं मेद न बेरसहिं आनूं ।
रचे हिंडोला झूलइं नारी । गावहिं अपर सब जोबन बारी ।
अरथ दरब घोर अउ हस्ती गिनत न आवइ काउ।
अन धन पाट पटोर भल कउतुक भूला राउ। (पद-31)

चंदा काव्य की नायिका है। उसके जन्म के समय भी लोक-रीतियों का निर्वाह ओर लोक चेतना को भास्वर किया है-

पाँच दिवसु छठी भइ राती । नेउता गोवर छतीसउ जाती ।
घर घर कहं कर टेका आवा । अउ तेहि पाछें बाज बधावा ।
महरीं सहस सात इक आईं । आंग मूंड सेंदुर अन्हवाईं ।
बांभन सभा आइ जो बइठी । काढि पुरानु रासि गनि दीठी ।
छठी क आखरु दीख लिलारा। उरधइ सों जाइहिं जम बारा ।
अगिनि पुरगु भा चांदहि अउ कट छुई न जाइ।
जस उजियारें फतिंगा मरिहहिं राइ उडाई।। (पद-33)

लोक चेतना की अभिव्यक्ति में लोक रिवाजों की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। रीति-रिवाजों के क्रिया कलाप, खान-पान, विविध पकवान, वेश-भूषा, लोक स्थान, लोक व्यवस्था और लोक देवी-देवताओं आदि का लोक बोली एवं हास-परिहास में वर्णन लोक चेतना को जीवंत बना देता है-

बरहें मास देसि गई बाता । धौर समंद माबर गुज़राता ।
तिरहुति अवधि बदांऊ जानी । चहूं भुवन असि बात बखानी ।
गोवर हि आहि महर कइ धिया । चांद नांउं धौराहर दिया ।
असि तिरिया जउ मांगे पाइय । अरथ लाइ कइ ब्याहइं जाइय ।
राजा के नित बरउत आवहिं । बहुरि जाहिं पइ उतरु न पावहिं ।
महरु कहइ को मोरे जोगित कासों करउं बिबाहू।
टिकइतु मिंत सब को अहइं जाति न देखउं काहु।। (पद-34)
चउथें बरिसि धरिसि जउ पाऊ । जइत बोलावा बांभन नाऊ ।
दीन्ह सुपारी मोतिन्ह हारू । कहिहु महर सों मोर जुहारू ।
अउ अस कहेउ मोर तूं भाई । राजा नइ कइ करहु सगाई ।
औ जस जासु कहिसु संवारी । जइसइं बर घर सुनि रे संकारी ।
महर कैं राध गवनहुं पइ आजू । हम चाहत सो कीजै काजू ।
एत कही कइ बांभन नाऊ दोऊ दीत चलाइ।
बरी चांद बावन कहुं बेगि कहउ मोंहि आइ।। (पद-35)
भार सहस दुइ लाडू लावन । जाजर पापड भए पकावन ।
कीत खिरउरा अउ कुसियारा । बहुल खंडौर भइ असंभारा ।
चीर पटोर फिराए बागा । टांका लाख सौ अभरन लागा ।
डांडी असी नवै इक चली । इक इक चाहि सो इक इक भली ।
सात आठ सै घोर पलाने । भए असवार राइ अउ राने ।
जस बसंत रितु टेसू फूलें चहुं दिसि देखिय रात।
भाट कलावंत भररिया तुरिया तस होइ चलो बरात।। (पद-40)

प्रेम काव्य परंपरा में नायिका का रूप वर्णन अभिन्न अंग रहा है। रूप वर्णन में नखशिख वर्णन का अपना विशेष महत्व है। नायिका के अंगों-उपांगों को कवियों ने विभिन्न उपमाओं से महिमा मंडित किया है। अपनी विशिष्ट उपमाओं के लिए महाकवि कालिदास को विशेष रूप से याद किया जाता है। दाउद ने भी नायिका चंदा का नखशिख रूप वर्णन किया है। जो विशेष रूप से देखने योग्य है। दाउद ने चंदा के रूप वर्णन में सौंदर्य के तत्व लोक में ढूँढा है। लोक से जो उपमायें दाउद ने दी हैं वे अपने आप में अनूठी हैं। कहा जा सकता है कि लोक रंग का यह वर्णन लोक चेतना का प्राण-तत्व बन गया है। जैसे माँग-कानखज़ूरा, बाल-विषधर, चोटी-सर्पिणी, ललाट-द्वितीया का चाँद, भौंहें-धनुष, आँखे-आम की फाँकें, नाक-सोने की खडग, अधर-कुश से चीरे हुए, दाँत-दाड़िम, जीभ-कमल का फूल, कान-चंदन से भरे हुए सीप, तिल-स्याही की बूँद, ग्रीवा-कुंभार के चाक पर बनाई गई पारदर्शी, पेट- घी में पकाई हुई सोहारी, कटि-रेशम का डोरा, शरीर-लहर की तरह आदि ऐसी उपमायें हैं जहाँ लोक अपनी संपूर्ण विशेषताओं के साथ उपस्थित है। कुछ पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं-

पहिले मांग क कहउं सोहागू । जेंहिं राता जगु खेलइ फागू ।
मांग चीरि सिर सेंदुर पूरा । रेंगि चला जनु कानखेज़ूरा ।
दीया जोति रइनि जसि बारी । का रे सीस दीस रतनारी ।

मइं वह मांगि चीर तर दीठी । उबत सूरू जनु किरनि पईठी ।
मोंति पुरोइ जउ हि बइसारा । सगरें देस होइ उजियारा ।
राउ रूपचंद बोला बहुरि इहइ खंड गाउ।
मांग सुनत मनु राता बाजुर करबि बिपाउ।। (पद-64)
भउंह धनुक जनु दुइ कर ताने । पनच बान बिष पैंचि संधाने ।
बान बिसार सान दइ लावइ । पारधि जइस अहेरइ आवइ ।
अरजुन धनुक सरग मइं देखे । चांद भउंह गुन सोइ बिसेखे ।
सर तीखे जेंहिं मार फिरावइ । ठउर परइ सो पैग न जावइ ।
भौंह बान धनि अस गुन अहा । मूंठि न डोल चुकाइहिं कहा ।
बंसकार छंडि बाजिर धानुक भई सो नारि।
सहजि मिरिगु भा राजा भाय मोहि गिय सारि।। (पद-67)
नैन सुरूप सेत मकरारे । खिन खिन बरन होंहि रतनारे ।
अंब फार जनु मोतिन्ह भरे । ते लइ भउंहन्ह के तरि धरे ।
डोलहिं सहजि जानु मद पिया । कइ निसि पवनि झकोरा दिया ।
उलटि समुंद जनौ मानिक रहे । राइ थाक कर गांहि न गहे ।
नैन समुंद हइं अति अवगाहा । बोहिथ बूडि न पावहिं थाहा ।
बहुतइं नैन चांद बस अउ देखहु दहुं आइ।
सरगि जाइ चढि चांदा बइसी राजा पूछउ काइ।। (पद-68)

सोवन थार हिएं जनु धरे । रतन पदारथ मानिक भरे ।
सहज सेंधउरा सेंदुर भरे । थनहर फेरि कुंदेरइं धरे ।
नारिंग थनहर उठे अमोला । सूर न देखइ पवनु न डोला ।
समुंद भरा जनु लहरइं देई । पोइन क रस जस भंवरइं लेई ।
अंब्रित हिरदेउं बेल उपाए । साजि कचोरा हिरदेउं लाए
कुसुंभ चीर तरि देखेउं फरे बेल बहु भांति।
राजहि घाय बिसरि गए सुनि अस्थन भइ सांति।। (पद-77)
पेटु कहउं सुनु तू जग राजा । आपुइं बान कवन पर साजा ।
पूरन खांड सपूरन पूरे । जहवां दीसहिं तहवां कूरे ।
जानु सोहारी घिरिति पकाई । देखत पान फूल पतराई ।
नाभी कुंड जउ देखइ बीरू । देखतहिं बूड न पावइ तीरू ।
जानौं आंत पेट महिं नाहीं । अंतरिख चांद दीस परछाहीं ।
अति अवगाह पेट अस बाजुर ता महिं सूझ न नीरू।
सुनि कइ राउ दौरि धसि लीते बूडि न पावइ तीरू।। (पद-78)

चांदायन में जितनी भी क्रियाओं का वर्णन हुआ है सभी लोक रस से सराबोर हैं। लोक शब्दों के साथ लोक प्रथाओं के निदर्शन में भी दाउद सिद्धहस्त हैं। बरहा, सोहारी जैसे शब्दों का अर्थ लोक के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। देवी पूजन के लिए स्त्रियों का सज-धज कर अपने-अपने टोले की स्त्रियों के साथ मंदिर जाना, पूजन की सामग्री एवं पूजन की विधि सिंदूर लगाना, अक्षत डालना,

फूल चढ़ाना आदि में लोक दर्शन का अपना ही मज़ा है। स्त्रियों की लड़ाई हो या बारहमासा बिरह वर्णन सभी लोक मर्यादा के दायरे में है।

उपर्युक्त वर्णनों के अलावा लोक जीवन, लोक मान्यताओं, लोक विश्वास, शुभ-अशुभ का विचार, छींक का विचार, रास्ता काटना, नक्षत्र व ज्योतिष में विश्वास सभी जगह लोक चेतना का परिष्कार दिखाई देता है। दाउद यह बताते हैं कि यह जो लोक है एक समृद्ध लोक है। संपूर्ण रचनना जन-जीवन की अभिव्यक्ति है। आम और खास को मिलाने की प्रक्रिया है।

मौलाना दाउद की बहुत बड़ी उपलब्धि है लोक जीवन से जुड़ाव। दाउद ने चांदायन में कहीं भी विशिष्ट की ओर नहीं देखा, और कहीं देखा भी तो साधारण के माध्यम से। कहा जा सकता है कि जब कवि ऊपर से नीचे होने का प्रयास करता है तभी उसकी जीवन साधना सफल होती है। कवि जब अपने बौद्धिक स्तर से नोचे उतरकर सामान्य जन से जुड़ता है तभी लोक ग्राह्य होता है तथा जब वह मसीहा बनता है तो लोक से दूर हो जाता है। भारतेन्दु जब अपने बौद्धिक स्तर से नीचे उतरकर लिखते हैं - चना जोर गरम, तभी लोक स्वीकृत होते हैं। चांदायन के माध्यम से दाउद का यही संदेश है कि मुक्ति का मार्ग मानुष प्रेम के माध्यम से ही बनता है। प्रेम की साधना से एक प्रकार की ज्योति पैदा होती है जिससे मनुष्य की चिन्मय वृत्तियों की पूर्ति हो जाती है। बिना प्रेम के जीवन केवल एक मूठी राख है और कुछ नहीं-

मानुष प्रेम भयहु बैकुंठी । नाहीं तो काह छार एक मूठी।

निष्कर्षत :- कहा जा सकता है कि जब भी लोक जीवन का इतिहास लिखा जायेगा दाउद ही नहीं समस्त सूफी काव्य की अवगणना नहीं की जा सकेगी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसी लोक चेतना के कारण ही इन कवियों को स्थापित किया है। इन सूफी कवियों ने प्रेम कथा के माध्यम से यह बताया है कि जीवन पलायनवादी नहीं जीने योग्य है।

संदर्भ–सूची :–

1. चांदायन-माताप्रसाद गुप्त-प्रामाणिक प्रकाशन, आगरा-प्रथम संस्करण : 1967

ꙮ★ꙮ

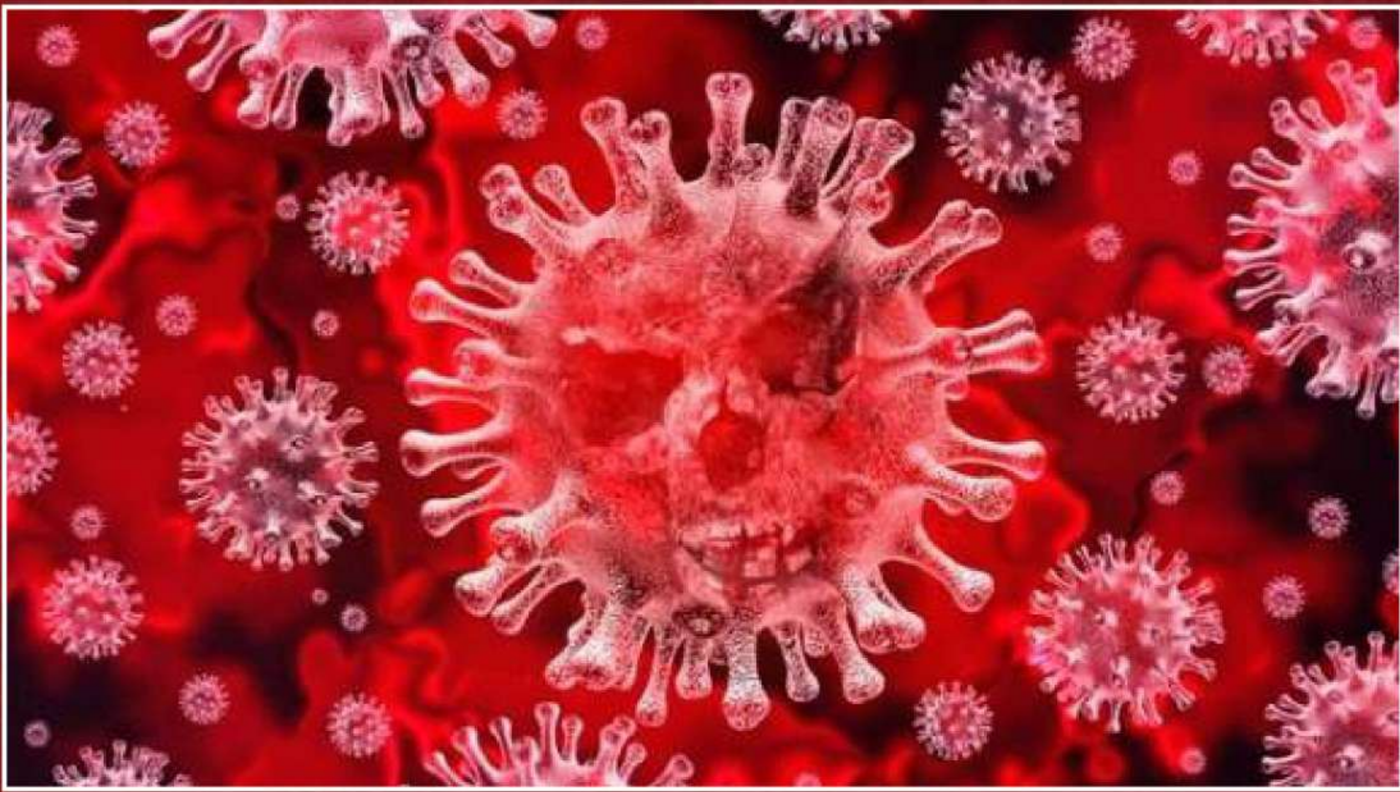

कोविड-19 वायरस, अलग-अलग लोगों को अलग-अलग तरह से प्रभावित करता है। संक्रमित हुए ज्यादातर लोगों को थोड़े से लेकर मध्यम लक्षण तक की बीमारी होती है और वे अस्पताल में भर्ती हुए बिना ठीक हो जाते हैं।

आम लक्षण :-

- बुखार, सूखी खांसी, थकान।

कम पाए जाने वाले लक्षण :-

- खुजली और दर्द, गले में खराश, दस्त, आँख आना, सिरदर्द, स्वाद और गंध न पता चलना, त्वचा पर चकत्ते आना या हाथ या पैर की उंगलियों का रंग बदल जाना।

गंभीर लक्षण :-

सांस लेने में दिक्कत या सांस फूलना, सीने में दर्द या दबाव, बोलने या चलने-फिरने में असमर्थ।

- कोविड-19 को फैलने से रोकने के लिए :-
- बार-बार हाथ धोएं। हाथ धोने के लिए, साबुन और पानी या एल्कोहल वाला हैंड रब इस्तेमाल करें।
- अगर कोई खांस या छींक रहा है, तो उससे उचित दूरी बनाए रखें।
- शारीरिक दूरी बनाना संभव न हो, तो मास्क लगाएं।
- आंखें, नाक या मुंह को न छुएं।
- खांसने या छींकने पर नाक और मुंह को कोहनी या टिश्यू पेपर से ढक लें।
- अगर आप ठीक नहीं महसूस कर रहे हैं, तो घर पर रहें।
- अगर आपको बुखार, खांसी है और सांस लेने में परेशानी हो रही है, तो डॉक्टर के पास जाएं।

संपादकीय / प्रकाशकीय पता :-

आलोचन दृष्टि प्रकाशन

आजाद नगर, बिन्दकी, जनपद—फतेहपुर, उ0प्र0—212635

ई—मेल : **aalochan.p@gmail.com**

दूरभाष : **09580560498 / 09451949951 / 7376267327**